A Rajput Princess by birth, Mirabai forsook worldly pleasures to seek spiritual wealth. Deliberate persecution by her relatives did not deter her from leaving the ivory tower of the palace to join humble devotees in an all-absorbing religious life.

Suffering and personal tragedy must have deepened her religious feeling which found expression in her matchless bhajans, suffused with devotion, delicacy and sweetness.

For she drew, not upon learning but the fullness of her heart, to compose bhajans that have enshrined her in the hearts of countless millions.

Saints like Mirabai are gifted with universal love and compassion. To them, even inanimate objects become alive with God. They serve God through His creation — a service born of the conviction that the entire Universe is filled with God.

Sainthood is a universal phenomenon.

• प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
• पुरुषार्थ-प्रतिपादक
• प्रसन्न-गम्भीर

चिन्तामणि

वर्ष १२ । अङ्क १
वार्षिक मूल्य : छह रुपये मात्र
एक प्रति : दो रुपया

संस्थापक: अनन्तश्री-स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक
ब्र० सच्चिदानन्द : विश्वम्भरनाथ त्रिवेदी

व्यवस्थापक
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई-४००००६
वर्ष १२ : अङ्क १

चिन्तामणि
विषयक्रम

English

सत्साहित्य पढ़िये

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	१०.००
२. माण्डूक्य-प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण)	७.५०
३. माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
४. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन—१	९.००
६. कठोपनिषद्-प्रवचन—२	१२.००
७. मुण्डकसुधा	३.७५
८. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
९. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
१०. ध्यानयोग (छठाँ अध्याय)	६.००
११. ज्ञान-विज्ञान-योग(सा. अ.)	६.००
१२. विभूतियोग (दसवाँ अ०)	५.२५
१३. भक्तियोग (बारहवाँ अ०)	६.००
१४. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (ते० अ०)	९.७५
१५. नारद भक्ति दर्शन	९.००
१६. गोपियोंके पाँच प्रेम गीत	०.४०
१७. भागवत विचार दोहन	३.००
१८. भक्ति सर्वस्व	७.५०
१९. मोहन नी मोहिनी (गुज०)	०.६०
२०. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
२१. आनन्दवाणी, भाग—७	१.५०
२२. श्री भक्तिरसायनम्	१२.००
२३. श्री भक्तिरसायनप्रपा	३.००
२४. गीता-दर्शन	५.५०
२५. साधना और ब्रह्मानुभूति	५.२५
२६. च० नि० आणि ब्रह्मज्ञान	१.५०
२७. महाराजश्रीका एक परिचय (गुजराती)	१.९०
२८. महाराजश्रीका एक परिचय	१.००
२९. आनन्दवाणी, भाग ५ (गु०)	२.२५
३०. ज्ञान निर्झर	०.९०
३१. आत्मबोध	३.००
३२. कपिलोपदेश	३.७५
३३. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
३४. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
३५. राम-शताब्दी-स्मृति	२०.००
३६. माधुर्य लहरी	२ ००
३७. माधुर्य-मञ्जूषा	३.००
३८. श्री उड़िया बाबाजी म०	५.००
३९. वेणुगीत	३.००
४०. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(१)	१०.००
४१. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(२)	१०.००
४२. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-(३)	१०.००
४३. माधुर्य मयंक	३.००
४४. माधुर्य मकरन्द	३.००
४५. विवेक कीजिये	५.५०
४६. Glimpses of Life Divine	1.50
४७ An Introduction to a Realised Soul	0.40
४८. Ideal and Truth	5.25

'चिन्तामणि'की १ से १० वर्षकी पुरानी फाइल उपलब्ध है।

— सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट —
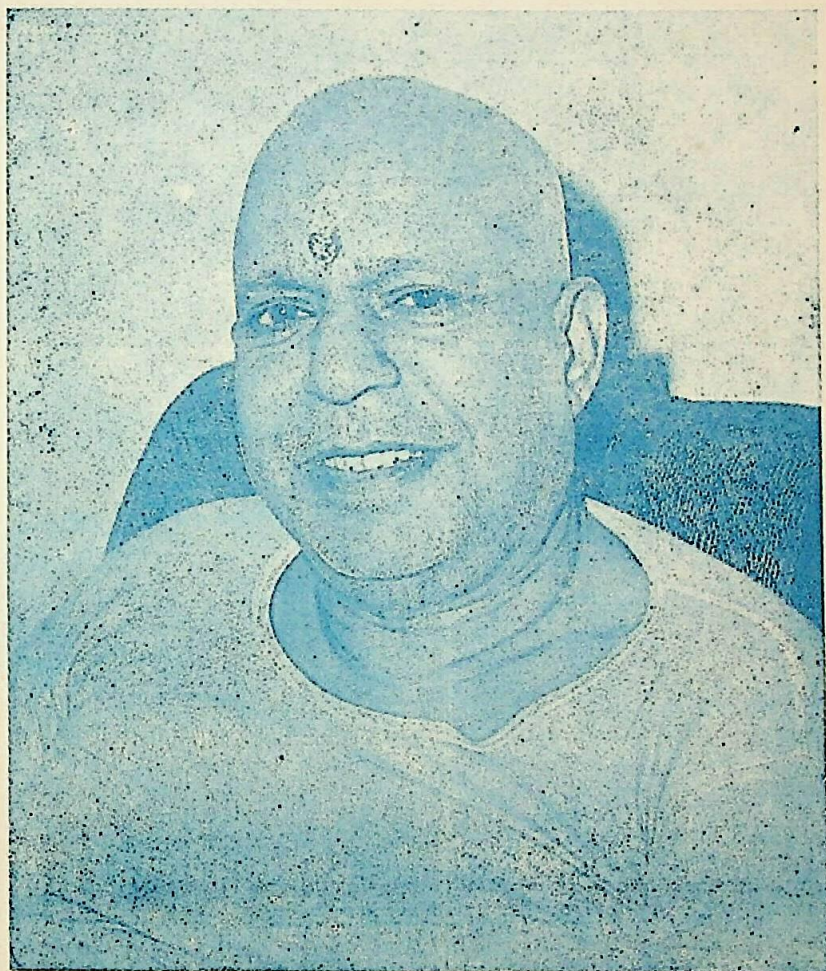
'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, बम्बई—४००००६

अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
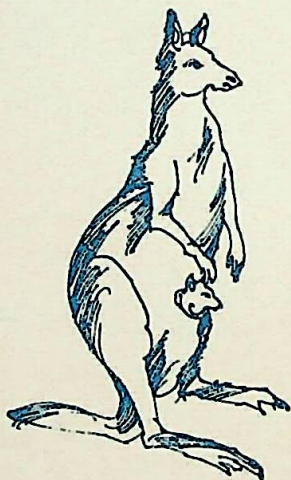
रैमण्ड सूटिंग
आपके पासपोर्ट से
कम नहीं
आस्ट्रेलिया

नवम्बर '७७
वर्ष : १२
अंक : १

स्वस्त्ययन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ=मंगल हो! **अदः**=वह सर्वकारण कारण ब्रह्म, जो केवल अज्ञात होनेके कारण ही परोक्ष है; **पूर्णम्**=पूर्ण है। **इदम्**=यह दृश्यमान जगत् भी तत्त्वतः वही होनेसे; **पूर्णम्**=पूर्ण है। **पूर्णात्**=पूर्णसे; **पूर्णम् उदच्यते**=पूर्ण ही प्रकट होता है। **पूर्णस्य पूर्णम् आदाय**=पूर्णकी पूर्णताका ज्ञान हो जानेपर; **पूर्णम् एव अवशिष्यते**=केवल पूर्ण ही शेष रहता है, अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्मसे अध्यस्त पृथक् नहीं रहता। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=त्रिविध तापकी शान्ति हो।

●
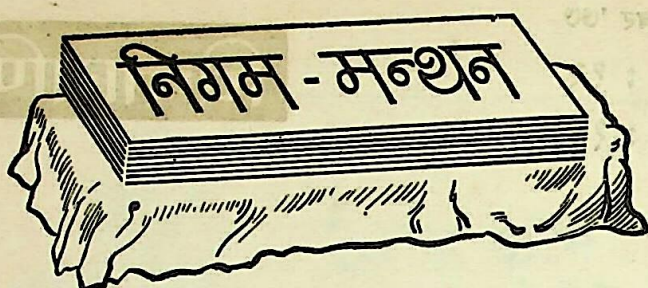
पुरुषसूक्त

परमपूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महराज

पुरुषसूक्तका तात्पर्य परम ब्रह्ममें ही है। यह छठा सूक्त है। इसमें सोलह ऋचाएँ हैं। इस सूक्तके ऋषि नारायण हैं। इसकी अन्तिम ऋचा त्रिष्टुप् छन्दमें है और अन्य अनुष्टुप्में। 'पुरुषान्न परं किञ्चित्'—(कठ० उ० ३.११) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध तथा अव्यक्त महदादि जड़तत्त्वोंसे विलक्षण चेतन पुरुष ही इस सूक्तका देवता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिꣳसर्व्वतस्पृत्त्वात्त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

(ऋ० सं० १०.९०.१)

वेदसे जिसका ज्ञान होता है वह परमेश्वर सभीका अन्तरात्मा होनेके कारण समस्त प्राणियोंके देहोंसे वही देहवान् है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंकी समष्टिका रूप धारण करनेवाला ब्रह्माण्ड भी वही है। इस प्रकार उसका विराट् स्वरूप होनेसे वही सहस्रशीर्ष (मस्तक) वाला 'सहस्रशीर्षा' कहा गया है। यहाँ सहस्र शब्दका अर्थ अनन्त है। इसलिए वह परमेश्वर अनन्त शिरोंसे युक्त है। अभिप्राय यह है कि समस्त प्राणियोंके जो शिर हैं वे सब उसीके शिर हैं। इसी प्रकार उसका सहस्राक्षत्व और सहस्र पादत्व भी समझना चाहिए। वह परमात्म-स्वरूपी पुरुष ब्रह्माण्डगोलकरूप अथवा प्रकृतिमण्डलरूपी भूमिको परिवेष्टित (आवृत) कर अर्थात् वह (पुरुष) सबका कारण होनेसे अज्ञान और उसके कार्यभूत प्रपञ्चको आध्यासिक तादात्म्यसम्बन्धसे ही व्याप्तकर लेनेके पश्चात् भी दश अंगुल परिमित देशका अतिक्रमण कर

अवस्थित रहता है। अथवा व्याप्त किये हुए कारणसहित प्रपञ्चके दश-गुणित या महापरिमाणवाले देशमें अवस्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्ड-मण्डलके बाहर भी व्याप्त होकर स्थित रहता है। क्योंकि प्रकृति और विकार तो उसके एक देशमें स्थित हैं। जैसे अनन्त आकाशके एक क्षुद्र प्रदेशमें मेघमण्डलकी स्थिति रहती है। वैसे ही भगवान्‌के अति स्वल्प प्रदेशमें प्रकृति और उसका विकारस्वरूप कार्य-समूह स्थित रहता है। श्री बादरायणने भी यही निर्णय किया है।

अथवा सहस्रशीर्ष शब्दसे शिरःस्थित चक्षुरादि इन्द्रिय-समुदायका भी ग्रहण किया जा सकता है। अथवा 'सहस्राक्ष', 'सहस्रपात्' शब्दोंसे ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण करके उस परमेश्वरकी सर्वज्ञान-क्रियाशक्तिमत्ताकी ओर संकेत हो सकता है। कुछ श्रुतियोंके आधारपर कहा जाता है कि उसके स्वयं अपने शीर्ष, अक्ष आदि नहीं हैं। तथापि यहाँ उसकी तत्तच्छक्तिमत्ता बतायी जाती है ॥ १ ॥

पुरुषएवेद॑ꣳसर्वम्यद्भूतं यच्चभाव्व्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

(ऋ० सं० १०.९०.२)

यह जो कुछ भी वर्तमान (विद्यमान) है, वह सब पुरुष ही है और जो अतीत (भूतकालिक) था तथा भविष्यत्कालिक (आगामी) होगा, वह भी पुरुष ही है। तात्पर्य यह है कि इस कल्प (सृष्टमें) जैसे वर्तमान सभी प्राणियोंके शरीर विराट् पुरुषके अवयव हैं वैसे ही अतीत और आगामी कल्पोंमें भी समझना चाहिए। अथवा जैसे इस समयका कार्य अपने कारणसे अभिन्न है वैसे ही अतीत और अनागतके कार्योंको समझना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि देवत्व या मोक्षका यह स्वामी है, क्योंकि प्राणियोंके निमित्तभूत भोग्य अन्नके द्वारा अपनी कारणावस्थाका अतिक्रमणकर जगदवस्थाको प्राप्त करता है। जगद-वस्थाको उसका प्राप्त होना वास्तविक नहीं है। वह तो कर्मफलका भोग प्राणियोंको प्राप्त हो सके, इसलिए जगदवस्थाको स्वीकार करता है।

पुरुषसूक्त-प्रकरणके मोक्षधर्ममें—

अजन्मा भगवान्‌से उत्पन्न हुए मनुष्यादि प्राणियोंपर भगवान् पुरुषोत्तम अकारण ही कृपा करके उन्हें निर्वाण देता है। अमृतत्वरूप

परम पदका स्वामी अत्यन्त नित्य अपूर्वकी तरह जो परम पद सहज आविर्भूत होता है वही लीलाविभूतिका अतिक्रमणकर प्रकाशमान होता है।

एतावानस्य महिमातो ज्ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोस्य व्विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ॥ ३ ॥
(ऋ० सं० १०.९०.३)

इसका अर्थ कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं—अचित्से संसृष्ट जीव, उस पुरुषका तुरीय (चतुर्थ) अंश (पाद) है। और 'परम व्योम' पदसे जिसे कहा जाता है और जो सम्पूर्ण समष्टितत्त्वसे बहिर्भूत अप्राकृत-स्थानविशेषरूप परम पद है, उसमें जो जरा, मरणादिसे रहित नित्य-वस्तुजात है वह, उस पुरुषके तीन पैर (पाद) हैं। भोग्य, भोग्योप-करण, भोगस्थानरूप तीन प्रकारकी वस्तुएँ होती हैं। अतः उनके लिए 'त्रिपात्' (पादत्रय) शब्दका प्रयोग किया गया है।

अथवा जगत्के अन्तर्गत वस्तुओंके अभिमानी और अस्त्र-भूषणादि-रूप नित्य और भगवदनुभवको प्राप्तिमें ही निरन्तर लगे हुए नित्य मुक्तोंकी सत्ता परमपदमें होनेसे उनको 'त्रिपात्' शब्दसे यहाँ बताया गया है।

अथवा पादका अर्थ है भगवान्के आश्रयसे रहनेवाली सृष्ट्यादि शक्तिका एक देश। अर्थात् परम पुरुषकी शक्तिके लेशमात्रसे विजृम्भित (विलसित) हुआ यह जगत् है। इसी आशयको पराशर कहते हैं—'जिसके अयुतके भी अयुतांशके एक अंशमें यह विश्वसृष्टि स्थित है।' इस परम पुरुषका अधिक अंश (त्रिपात्) जो अमरण धर्मवाला तथा नित्य मुक्त है, वह परम व्योममें उद्भासित होता रहता है। इसी बातको 'जागृवांसः समिन्धते' यह श्रुति बता रही है।

अथवा 'त्रि' शब्द बहु (विपुल) परक है और 'पाद' शब्द गुण परक है। निष्कर्ष यह है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि गुणोंसे विशिष्ट वह परम पद है।

अथवा, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध-स्वरूप भगवान्के अनिरुद्धांश (तुरीयांश) रूप समस्त भूत (प्राणी) हैं और उनसे बचा हुआ (अवशिष्ट) 'त्रिपात्' रूप अंश नाकपृष्ठ (स्वर्गपृष्ठ) पर स्थित है। इस प्रकार कुछ लोग अर्थ करते हैं।

'एतावानस्य महिमा' पूर्ववर्णित सब कुछ इस पुरुषका ही वैभव (महिमा) है। यद्यपि उसके वैभवकी कोई मर्यादा (अवधि) नहीं तथापि इस वर्णित मर्यादा (सीमा, अवधि) से उसके वैभवकी निरवधिकतामें कोई हानि नहीं हो पाती। अतः अपनी निःसीम ज्ञानशक्ति तथा अन्तर्यामिताके कारण वह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। अथवा इस प्रपञ्चकी इतनी महिमा है किन्तु उससे भी अधिक महिमाशाली होनेसे पुरुष ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। अथवा पूर्वप्रतिपादित सभी कुछ इस पुरुषका ही सामर्थ्य (महिमा) है। अतः उस समस्त महिमासे विशिष्ट प्रपञ्चकी अपेक्षा पुरुषकी ही श्रेष्ठता (ज्यायस्त्व) समझमें आती है। समस्त भूत (समस्त भौतिक सृष्टि) इस पुरुषका एक (अंश) पादमात्र है। यही उसकी श्रेष्ठता है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च उस पुरुषके एक पाद (अंशमें) समा गया है।

किन्तु साम्प्रदायिक विद्वान् यह कहते हैं कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान जितना भी जगत् है वह सब इस पुरुषका अपना विशिष्ट सामर्थ्य है, वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है। वस्तुतः पुरुष तो अपनी इस महिमा (शक्ति) से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है। कालत्रयवर्ती सभी प्राणी-समूह इस पुरुषका एक चतुर्थांश है। और इस पुरुषके अवशिष्ट तीन अंश विनाशसे रहित हैं। वह स्वप्रकाशस्वरूपमें स्थित रहता है। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्यके द्वारा प्रतिपादित परब्रह्मकी कोई इयत्ता न होनेसे उसके चतुष्पात्त्वका निरूपण करना असम्भव है, तथापि यह जगत् ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा स्वल्प है। इस तात्पर्यसे ही पाद शब्दका उपन्यास किया गया है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

(ऋ० सं० १०.९०.४)

निःसीम ज्ञानशक्ति आदिसे युक्त वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नस्वरूपी त्रिपात् पुरुष जिसकी नित्यमुक्त योगीजन आदि सेवा किया करते हैं वह प्रकृति-मण्डलसे ऊपर परमव्योमरूप वैकुण्ठमें उद्गत होता है। इस प्रकारके उस पुरुषका जगत्की सृष्टि करनेमें अपना कोई प्रयोजन नहीं और न हो वह उसके करनेमें अन्य किसी नियमके पराधीन है, बल्कि जगत्के सर्जनमें एकमात्र उसकी कृपा ही कारण है। और उस

त्रिपात् पुरुष भगवान्का अवशिष्ट चतुर्थपाद ऐश्वर्यकी इस लीलाभूमि-पर उतरा। इसी बातको बैकुण्ठसंहितामें भी कहा गया है—'सर्वव्यापी भगवान् विष्णुने जगत्की रक्षा करनेके लिए अपने शरीरसे संकर्षणको, संकर्षणने प्रद्युम्नको, प्रद्युम्नने अनिरुद्धको निष्पन्न किया। तब जगत्की उत्पत्ति करनेके लिए अनिरुद्धने ब्रह्माको पैदा किया। इस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तमने स्वयं अपनेको ही चार रूपोंमें विभक्त किया। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंसे परे त्रिपादरूपसे वह नित्य विराजमान है। और वह अनिरुद्धस्वरूप भगवान् सृष्टिके अनुकूल संकल्प करता है। 'बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि योगनिद्राके समाप्त होनेपर वही चारो ओर सर्वत्र अपने संकल्पमात्रसे ही व्याप्त हो जाता है। देव, मनुष्यादिरूप जंगम तथा वृक्ष-लता-गुल्म आदि स्थावरको लक्ष्यकर स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत्के रूपमें अपनेको अनेक बनानेका संकल्प उसने किया।

संसारसे रहित वह त्रिपात् पुरुष ब्रह्म अज्ञानके कार्यभूत संसारसे बहिर्भूत अर्थात् यहांके गुण-दोषोंसे असंस्पृष्ट रहकर अपने उत्कर्षसे स्थित रहा। और उस पुरुषका चतुर्थपाद (अंश या लेश) यहाँ मायामें ही पुनः बना रहा अर्थात् जगत्की सृष्टि और संहार करनेके लिए बार-बार आता रहता है। यह समस्त जगत् परमात्माका एक लेश है। यह बात भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है। इस समस्त जगत्को मैं अपने एक अंशसे व्याप्त कर रहा हूँ। (श्रीमद्भ० गी० १०.४२)। मायामें आनेके पश्चात् देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि रूपोंसे विविध होकर उसने इस जगत्को व्याप्त किया अर्थात् भोजनादि व्यवहार करनेवाले चेतन और उस प्रकारका व्यवहार न करनेवाले पर्वत, नदी आदि दोनों प्रकारके चराचर जगत्में विविधरूपसे स्वयं ही व्याप्त हो गया ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

(ऋ० सं० १०-९०५)

उसके संकल्प करनेके कारण प्रकृतिस्वरूप विराट्—क्योंकि महदादि विविध रूपोंमें विराजमान रहनेसे उसे विराट् कहते हैं। पैदा हुआ अर्थात् महत्से लेकर अण्डतकके रूपोंको धारण किया। यह अद्वारका (बिना किसी द्वार = माध्यमके) सृष्टि है। इसके पश्चात् सद्वारका सृष्टि

बतानेके लिए चतुर्मुख सृष्टिको बताया जा रहा है। अण्डतकके प्रकृति-मण्डलके अनन्तर वह पुरुष चतुर्मुख रूपसे प्रकट हुआ।

अथवा उस परम पुरुषसे अत्यधिक शोभा-सम्पन्न अनिरुद्ध उत्पन्न हुआ। अर्थात् वह परम पुरुष हो अनिरुद्ध रूपसे अवतीर्ण हुआ। यही बात मोक्षधर्ममें भी कही गयी है—'जगत्का स्रष्टा व्यापक ईश्वर विराट् नारायण हो अनिरुद्ध है।' विराट् पुरुष अनिरुद्धसे अधिकारी पुरुष चतुर्मुख हुआ। भगवत्कृपासे वह चतुर्मुख प्रवृद्ध शरीर (महान् शरीर)-वाला बन गया। जिससे कि अत्यन्त महान् वस्तुके निर्माणमें वह समर्थ हो सके। उसके शरीरको वृद्धि बताते हैं—भूमिके नीचे और उसके ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त हो गया। अथवा 'विष्वङ् व्यक्रामत' इस पूर्वोक्त अंशको ही विस्तारसे बताया जा रहा है। उस आदि पुरुषसे विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड देह हुआ। जिसमें विविध प्रकारकी वस्तुएँ विराजमान रहती हैं उसे विराट् कहते हैं। विराट् देहके ऊपर अर्थात् उसी देहको आधार बनाकर उस देहका अभिमानो कोई पुरुष पैदा हुआ। वही सम्पूर्ण वेदान्तोंका वेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी मायासे ब्रह्माण्ड नामक विराट् देहको पैदाकर उसमें जीवरूपसे प्रविष्ट होकर उस ब्रह्माण्डका अभिमानो देवतात्मा जीव हुआ। इसी आशयको अथर्वण वेदके नृसिंहतापनीय उपनिषद्में बताया गया है। उसी पुरुषने भूतोंको, इन्द्रियोंको, विराट्को, देवताओंको और कोशोंको पैदाकर मूढ हुआ-सा व्यवहार करता रहता है (नृ० ता० उ० २.१.९)। उस उत्पन्न हुए विराट् पुरुषने विराट्से व्यतिरिक्त होकर देव, तिर्यक्, मनुष्यादि रूपोंको धारण कर लिया। उसके पश्चात् देवता आदि जीव-भावको ग्रहण करनेके बाद उसने भूमिको पैदा किया। भूमिकी सृष्टि करनेके अनन्तर सप्त धातुओंके द्वारा उन जीवोंके शरीरोंकी सृष्टि की॥५॥

> तस्माद्यज्ञात्सर्व्वहुतः सम्भृतम्पृषदाज्यम्।
> पशूँस्ताश्चक्रे वायव्व्यानारण्यान्ग्राम्म्याश्च ये ॥ ६ ॥
>
> (ऋ० सं० १०.९०.६)

उस आत्मसमर्पणरूप यज्ञके द्वारा आराधित पुरुषसे सृष्टिके अनुकूल ज्ञानशक्तिको प्राप्तकर चतुर्मुखने यथापूर्व जगत्का सृजन किया। 'सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् तस्मात्' भगवान्के लिए सबका हवन करनेवाले अर्थात् अपना समस्त भार भगवान्को समर्पण करनेवाले उस चतुर्मुखसे अथवा

कौस्तुभ-स्थानापन्न जीवात्मा अत्युत्तम होनेके कारण उसी बहुमूल्य अपनी आत्माका अर्पण करनेवाले चतुर्मुखसे अर्थात् इसने अपना सभी कुछ भगवान्‌को समर्पित कर दिया। इसलिए इसे 'सर्वहुत्' कहते हैं। अथवा सर्व शब्दका वाच्य जो भगवान् उसके लिए आहुति देनेवाला 'सर्वहुत्' कहा जाता है। अर्थात् भगवान्‌को उद्देश्यकर आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेवाला 'सर्वहुत्' कहा जाता है। उस यज्ञनीय चतुर्मुखसे पृष्दाज्य अर्थात् दधिमिश्र आज्यके स्थानमें तत्तत् विचित्र स्वरूपमें सर्जन की जावेवाली वस्तुओंको पैदा करनेमें हेतुभूत शुक्ल, नील आदिकोंको उत्पन्न किया। जब इन दो वाक्योंको जगत्सृष्टि-परक न माना जाय तब समस्त होमके अधिष्ठानभूत सर्वहुत्से पृषदाज्य उत्पन्न हुआ। अथवा 'सर्वं हूयतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्तिसे 'सर्वहुत्'का अर्थ नारायण ही है। किन्तु 'सर्वाय हूयतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्तिसे पूर्वोक्त यज्ञपरक यह 'सर्वहुत्' शब्द है। 'तस्माद् यज्ञात्'का अर्थ 'यज्ञार्थम्' अर्थात् यज्ञके लिए ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि यहाँपर प्रयोजनकी हेतुत्वके रूपमें विवक्षासे पञ्चमीका प्रयोग किया गया है। जैसे 'अध्ययनाद् वसति'। 'पृषदाज्य'का अर्थ दधिमिश्रित आज्य है। वायुमार्गमें चलनेवाले पक्षिरूप पशुओंको बनाया। अरण्यमें होनेवाले और ग्राममें होनेवाले पशुओंको बनाया। जैसा कि विष्णुपुराणमें कहा गया है—'गाय, अज, पुरुष, मेष, अश्व, अश्वतर, गर्दभ आदि इन पशुओंको ग्राम्यपशु कहते हैं और श्वापद, द्विखुर, हस्ति, वानर, पक्षी, औदक (जलके) पशु और सरीसृप ये आरण्यपशु कहे जाते हैं। सर्वात्मक पुरुष जिस यज्ञमें हवन किया जाता है उसे 'सर्वहुत्' कहते हैं। उस पूर्वोक्त मानस यज्ञसे पृषदाज्यका सम्पादन किया गया अर्थात् दधि, आज्य आदि सभी भोग्य वस्तुओंका सम्पादन किया गया। उसी तरह वायु-देवताक लोकप्रसिद्ध आरण्यक पशुओंको पैदा किया गया। आरण्य हरिण आदि और ग्राम्य गाय, अश्व आदिकोंको भी बनाया गया। अन्तरिक्षके माध्यमसे पशुओंको वायुदेवताक यजुर्वेदके ब्राह्मणमें बताया गया है—'वायु अन्तरिक्षकी अध्यक्ष है। तुम लोग वायुदेवताक हो। अतः ये पशु अन्तरिक्ष देवतावाले हैं। वायु ही इन्हें देता है।' (तै०ब्रा० ३.२.१-३) ॥६॥

तस्माद्यज्ञात्सर्व्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्म्माद्यजुस्तस्म्मादजायत ॥ ७ ॥

(ऋ० सं० १०.९०.७)

उस चतुर्मुखसे इक्कीस शाखाओंका ऋग्वेद, एक हजार शाखाओंका सामवेद उत्पन्न हुआ। अर्थात् उस सर्गमें प्रथमोच्चारणका विषय बना। उसीसे गायत्री आदि छन्द और एक सौ नव शाखाका यजुर्वेद हुआ। जहाँ उच्चारण अन्यसापेक्ष हो वहाँ किसी उच्चारणविशेषकी प्राथमिकता होना विवक्षित होनेसे 'उत्पत्ति'का अर्थ यहाँपर ससर्गीय प्रथमोच्चारणविषयता ही करना चाहिए।

उस सर्गकी प्रथमोच्चारणविषयतारूप उत्पत्ति ही वेदकी सृष्टि है। इस कारण यद्यपि उस सर्गके चतुर्मुखसे किये गये प्राथमिकोच्चारणकी विषयतारूप चतुर्मुखजन्यत्व वेदोंमें सम्भव नहीं हो पाता, तथापि अन्य सापेक्षोच्चारणोंमें उसकी प्राथमिकता विवक्षित होनेसे कोई दोष नहीं है। अथवा उस परम पुरुषसे वेदोंकी उक्त प्रकारको उत्पत्ति होती है, क्योंकि चतुर्मुखका उपदेष्टा वही परम पुरुष है। अपने समान जातिवाले शब्दोंके समकालमें न रहनेवाले प्रागभावका प्रतियोगी न होना ही प्रवाहकी अनादिता कही जाती है और तादृशध्वंसका प्रतियोगी न हो पाना प्रवाहकी नित्यता है। अपनी आनुपूर्वीसे युक्त होना, स्वसमान-जातीयता है। प्रत्येक उच्चारणके भेदसे आनुपूर्वीके भिन्न होनेपर स्ववृत्ति आनुपूर्वीकी सजातीय आनुपूर्वीका होना ही साजात्य है। पूर्वोक्त उस यज्ञसे ऋचाएँ तथा साम उत्पन्न हुए। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए। उससे यजुः भी हुआ ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्म्मात्तस्म्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

(ऋ० १०.९०.८)

वेदके आविर्भावका प्रतिपादन करनेसे ही तत्प्रतिपाद्य यज्ञकी सृष्टिका प्रतिपादन भी अर्थात् हो जाता है। उसके लिए यज्ञोपयोगी पदार्थोंकी भी सृष्टिका प्रतिपादन किया जा रहा है। इस ऋक्में 'तस्मात्' और 'जनि' धातुका बार-बार उपादान करनेसे स्थानके अवान्तर भेदोंको बताया जा रहा है। जैसा कि विष्णुपुराणके प्रथम अंशके पञ्चमाध्यायमें 'यज्ञोंके प्रथम मुखसे गायत्र, ऋचाएँ, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर और अग्निष्टोम निर्मित हुए। और उनके दक्षिण मुखसे यजुस्, त्रैष्टुभ् छन्द, पञ्चदशस्तोम, बृहत्स्तोम, उक्थ्य पैदा हुए। तथा उनके पश्चिम मुखसे साम, जगती छन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूप और अतिरात्र पैदा हुए।

और उनके उत्तर मुखसे इक्कीस शाखावाला अथर्वण और आप्तोर्याम, अनुष्टुभ् तथा वैराज साम उत्पन्न हुए। (५३-५६)। उस प्रजापतिने अपने वक्षःस्थलसे भेड़ोंको तथा मुखसे बकरोंको पैदा किया। और दोनों पैरोंसे हाथियों सहित घोड़ोंको, गदहोंको, गवय, मृग तथा ऊँट, अश्वतर, न्यंकू आदि अन्य जातियोंके पशुओंको पैदा किया। (४८-४९) उस पूर्वोक्त ब्रह्मरूप यज्ञसे अश्व उत्पन्न हुए। उसी प्रकार कतिपय जो अश्व व्यतिरिक्त गर्दभ, अखतर और ऊपर-नीचे जिन्हें दाँत होते हैं ऐसे भी पशु उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उसी यज्ञरूप ब्रह्मसे गौएँ पैदा हुईं। और उसीसे अज, अवि आदि पशु भी उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥

(सावशेष)

•

रसाद्वैत

प्यारे! तेरी रति में रत हो तो ही में रम जाऊँगी।
तो में रमी-रमो मैं प्रीतम! अपनो पतो न पाऊँगी ॥१॥

रह जाओगे तुम हो तुम, फिर मैं तुव रति कहवाऊँगी।
रमन और रति-भेद भानि फिर रस-निधि ह्वै लहराऊँगी ॥२॥

रस-निधि की कल्लोल लोल ह्वै रसके गीत सुनाऊँगी।
रसिकनकों यों रस-प्रदान करि तुमसों उनहिं मिलाऊँगी ॥३॥

मिले-जुले यों रसिक और रस-निधि को केलि कराऊँगी।
निरखि-निरखि वह रस-बिहार कोउ भेद-अभेद न पाऊँगी ॥४॥

भेद-अभेद-खेद तजि फिर मैं कासों कहा कहाऊँगी।
वाही मौन-भौनमें प्रीतम! तुम्सों रास रचाऊँगी ॥५॥

रसमय रास-विलास विलसि मैं तुम ही तुम रह जाऊँगी।
तुम ही जानहु मेरे प्रीतम! फिर मैं कहा कहाऊँगी ॥६॥

—श्री स्वामी सनातनदेव जी

श्रीवृन्दावन

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

वृन्दावन शब्दका अर्थ है—तुलसीका वन। तुलसी प्रेमकी देवी है। उसे भगवान्‌ने आत्मीयरूपसे स्वीकार किया है। उसे सर्वदा अपने सिरपर धारण करते हैं! आपने देखा होगा—शालग्रामपर तुलसीदल। विना तुलसीके भगवान्‌को भोग नहीं लगता। तुलसीका भगवान्‌से प्रेम है। वह उनके स्पर्शके विना नहीं रहती। भगवान्‌का तुलसीसे प्रेम है, वे उसके विना भोजन नहीं करते! वृन्दावन अर्थात् परस्पर-समरस प्रेमका स्थान।

वृन्दावन : वृन्दा तुलसीके समान छोटे छोटे पौधोंका वन। बड़े-बड़े और पुराने वृक्षोंके वनमें हिंसक पशु निवास करते हैं। शेर, चीता, सांप, अजगर—परन्तु वृन्दावनमें हिंसक पशुओंका निवास नहीं है! भागवत शास्त्रके अनुसार वहाँ नैसर्गिक मित्रताका विलास है! इसलिए वह भजन करनेका पावन-धाम है! वैर, विरोधके स्थानमें भजन नहीं होता। वहाँ शत्रु-मित्रका चिन्तन होने लगता है! वन शब्दका प्रकृतिगत अर्थ है—सम्यक् भक्ति! संसारको अलग रखकर भगवत्-प्रेमका रसास्वादन करना। सचमुच वृन्दावन ऐसा ही वन है :

वृन्दा श्रीराधारानीकी एक सखीका नाम है! सखी-शब्दका अर्थ है—जिसकी ख्याति समान हो! जहाँ वृन्दा वहाँ राधा-जहाँ राधा वहाँ वृन्दा! जिस वनकी व्यवस्थापर स्वामिनी वृन्दा हो—उसका नाम वृन्दावन! वृन्दा सखी राधा-माधवकी लीला-सेवाके लिए सामग्रीका सम्पादन करती है। स्नानके समय गर्मी, शयनके समय शीतलता, मिलनके समय सायंकाल, वियोग-लीलाके समय प्रातःकाल। स्नानके समय पद्मपराग-मण्डित सरोवर, शयनके समय पुष्पोंकी सुख-शय्या, रासके समय कोमल-भूमिका विस्तार, सुगन्ध, माधुर्य, सुख-स्पर्श वायु, चन्द्रिका-चर्चित-आह्लाद-दायक प्रकाश, कोयलकी कूक, पपीहाकी पी-कहाँ, वस्त्र, अङ्गराग, वाद्य-संगीत। सबकी व्यवस्था वृन्दा सखी करती है! लीलामें किसी

वस्तुकी न्यूनता न हो, इसलिए लीला-की समग्रता सम्पादन करना इनका काम है ! इनकी आज्ञाके विना वृन्दा-वनमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता। वृन्दाका वन ही वृन्दावन है !

वृन्दा माने श्रीराधा। उनका वन–वृन्दावन! वृन्दावन श्रीराधारानी-का व्यक्तिगत उद्यान है ! वह चिन्मय है ! जड़ तत्त्वोंसे बना हुआ नहीं है ! उसमें कालकी दाल नहीं गलती। अनादि-अनन्त है ! आवश्यकताके अनुसार स्थानका संकोच-विस्तार प्रकट होता है। उसमें लौकिक देशका प्रवेश नहीं है ! वहाँ स्त्री जाति-का जो कुछ है—वह सब राधा है ! वहाँ पुरुष जातिका जो कुछ है, वह कृष्ण है। लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, कण-कण, राधा कृष्णस्वरूप हैं। एक प्यास है—दूसरी तृप्ति। एक तृप्ति है—दूसरी प्यास। प्यास और तृप्तिके तरंगोंका नाम ही वन है ! यह रसका वन है। ब्रह्म वन है ! रसिक सन्त इसीमें निवास करते हैं ! वेदोंमें वनके नामसे ब्रह्मका वर्णन है ! उपनिषदोंमें ब्रह्मको ही वन कहा गया है। वन अर्थात् अनेकतामें एकता ! सबसे वही सच्चिदानन्द भरपूर है, नाम, रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो। भू देवीका प्रेमोल्लास, हास-विलास, हार्द-विकास वृन्दावन है।

यह वृन्दावन स्थूल, सूक्ष्म और कारणकी कल्पनासे युक्त है ! व्रज सत् है ! लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, ग्वाल-बाल चित् हैं ! गोप-गोपी, सखा-सखी आनन्द हैं ! श्रीराधा-कृष्ण परमानन्द-रस सर्वस्व-सार हैं। भू-देवीका विलास होनेके कारण ही रसके घनीभावमें तारतम्य होता है ! वन, कुञ्ज, निकुञ्ज ! निकुञ्जमें भी लीला-निकुञ्ज, नित्य-निकुञ्ज, निभृत-निकुञ्ज, निभृत निकुञ्जमें सखा-सखी किसीका प्रवेश नहीं है। वहाँ केवल आह्लाद आह्लादिनी युग्मकी रसमयी क्रीडा है, मुस्कान है, चितवन है, परस्पर स्पर्श है। वहाँ न मान है, न भ्रम है, न विरह है ! परस्पर मिलन-की तीव्र लालसा एकको दूसरेका रूप बना देती है। राधा कृष्णसे मिलनेके लिए राधा हैं। कृष्ण राधासे मिलनेके लिए कृष्ण हैं। दोनों लालसा-रूप हैं ! परस्पर बदलते हैं। परस्पर नवीन मिलन होता है ! नया रस, नयी पहचान। नया मिलन। नये-नये राधा-कृष्ण। भेद है प्रेमका विलास, प्रेमका उल्लास ! दोनों ही प्रेमके द्वारा संचालित होते हैं। सबके नियन्ताको भी प्रेम-नियन्त्रित करता है ! वैकुण्ठ लक्ष्मीका विलास है ! वहाँ ऐश्वर्यकी प्रधानता है ! वृन्दावन भू-देवीका विलास है, यहाँ माधुर्यकी प्रधानता है ! श्री और भू दोनों ही राधारानीके अङ्ग हैं, अङ्गी राधा हैं। कृष्ण अङ्ग हैं—राधा अङ्गी हैं ! राधा अङ्ग हैं कृष्ण अङ्गी हैं !

विलासके लिए नाम दो हैं, वस्तु एक ही है।

सत् एक है, आकार दो हैं! जैसे स्वर्ण और आभूषण! चित् एक है, वृत्तियाँ दो हैं! जैसे नेत्रेन्द्रिय एक गोलक दो। आनन्द एक है, रस-तरंग दो हैं! श्रीराधा-कृष्णमें कोई विभाजक रेखा नहीं है! जहाँ दो होते हैं वहीं मिलन-में देरी, दूरी या दूसरापन् होता है! एकमें इनकी गति नहीं है। विपरीत ज्ञान भ्रम है, दूसरेसे विरह है! अपनेपनमें मान है। रस-लीलामें ये तीनों ही विवर्त हैं, वास्तविक नहीं। अतएव नित्य-निभृत-निकुञ्जमें इन भावोंका प्रवेश नहीं है। ये लीलाके बहिरंग भाव हैं, अन्तरंग नहीं! "एक स्वरूप सदा द्वै नाम, आनन्दकी आह्लादिनी श्यामा, आह्लादिनीके आनन्द श्याम।" यहाँ आराधिका, आराधना एवं आरा-ध्यका विभाग नहीं है। वे न द्वैत हैं, न त्रैत हैं! न एकत्व है, न बहुत्व है! सच्चिदानन्द वाग्वृत्ति, क्रियावृत्ति, अथवा भोगवृत्तिमें आरूढ़ नहीं है! स्पन्द एवं निःस्पन्द दोनों हित हैं, प्रेम-रस बोध हैं।

पत्रोत्तर

दि० ३०-६-७७

परम प्रिय स्वामी जी,

सप्रेम नारायण स्मरण!

आपका पत्र समयसे मिल गया था। श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने ऐसा कहा था कि भोजनके सिवाय और कोई वस्तु कभी किसीसे माँगना नहीं। दूसरेको देनेके लिए प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिए, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो। यदि देनेवाला स्वयं भी देता हो, देनेका प्रस्ताव करता हो, किसी विशेष कामके लिए या व्यक्तिके लिए, तो मना भी नहीं करना चाहिए। आपके उत्तम संकल्प और कार्यकी पूर्तिके लिए मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ; परन्तु मैं जानता हूँ कि इससे आप संतुष्ट ही होंगे।

शेष भगवत्कृपा!

—अखण्डानन्द सरस्वती

नव्य प्लेटोवाद और भारतीय दर्शन

डॉ० श्री छोटेलाल त्रिपाठी, एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट्

प्रवक्ता : दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

(पूर्वानुवृत्त)

प्राथमिकता : भारत और यूनान

अब हमें यह देखना है कि तृतीय प्रश्नका उत्तर हमारे पक्षमें है या विपक्षमें। अर्थात् उपर्युक्त सिद्धान्तोंकी स्थापना पहले भारतमें हुई अथवा यूनानमें। इस प्रश्नपर इतिहास पूर्णतया स्पष्ट है।

ईसासे दो हजार वर्ष पूर्व वैदिक युगसे ही हमें ऐसे प्रमाण मिलने लगते हैं जिनके आधारपर हम यह कह सकते हैं कि भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, केल्ट और जर्मन जातिकी भाषा, पुराणशास्त्र, धार्मिक परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओंमें पर्याप्त रूपसे साम्य था। द्यौस पितर, ऊषा और सूर्य आदि देवता भारत और यूनानमें समान रूपसे पूजे जाते थे। यूनानियोंके ओलियम्पियाई धर्म और वैदिक धर्मकी उत्पत्ति एक ही मूलसे प्रतीत होती है। वेद और होमरकी कविताओंमें जिस सामाजिक जीवनका चित्रण हुआ है उनमें भी अभूतपूर्व समानता दिखाई पड़ती है। दोनों ही पितृकुलीन और जन-जातीय समाज प्रस्तुत करते हैं। इन तथ्योंसे यह सिद्ध होता है कि इतिहासके किसी कालविशेषमें इन दोनोंकी उत्पत्ति एक ही संस्कृतिसे हुई होगी। डॉ० राधाकृष्णन्के शब्दोंमें 'यूरोप निवासी ऋग्वेदमें अपने जातीय दायका स्मारक स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं।[४] मैक्समूलरका तो यहाँ तक कहना है कि हम अपनी भाषा और विचारमें जहाँतक आयें हैं वहाँतक ऋग्वेद हमारा प्राचीन-तम ग्रन्थ है[१]। दूसरे शब्दोंमें ऋग्वेदमें हमें अपनी भाषा और विचारोंके प्राचीनतम रूपोंके दर्शन होते हैं[३]।

---

१. डॉ राधाकृष्णन् 'ईस्टर्न रेलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट पृ० १५०।
२. वही पृ० ११९।
३. डॉ० राधाकृष्णन् ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट पृ० ११९।
४. केगी दि ऋग्वेद (१८९८) पृ० २५।

वैदिक देवता मित्रने जिसका पार्सियोंके ग्रन्थ अवस्थाकी भाषामें मिथ्र[1]के रूपमें वर्णन किया गया है दो बार[2] समस्त पाश्चात्य जगत्को अपने प्रभावमें समेट लिया था और सम्राटों एवं सम्राज्ञियोंका आराध्यदेव बन गया था। २७० ई० में औरेलियनने उसीके नामपर विजय प्राप्त की थी तथा गैलेरियस और लाइसेनियसने उसकी स्मृतिमें ३०७ ई० में डेन्यूबके तटपर कैरेन्टममें एक मन्दिरकी स्थापना की थी। सिन्धु और फारसकी खाड़ीसे ही भारत और ईरानके बीच बाणिज्यका क्रम बौद्ध युगके अन्ततक चलता रहा। ९७५ ई० पू० में ही हमें लेवेण्ठके फोयनीशियन और पश्चिमी भारतके लोगोंके मध्य व्यापार होनेके प्रमाण मिलते हैं। इस युगमें टायरके सम्राट् हाइरमने अपने राजभवनों और सुलेमान (Solomon) के मन्दिरोंकी सजावट और शृङ्गारके लिए हाथी-दांत; बानरों और मयूरका आयात किया था।[3]

सिन्धु घाटी और यूफ्रेटियोंके बीचका व्यापार सम्बन्ध भी काफी प्राचीन प्रतीत होता है क्योंकि हमें कैपेडोसियामें प्राप्त मितानीके हित्ताइत सम्राटोंके कीलाकार शिलालेखोंमें पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी ईसापूर्वमें ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अश्वनीकुमार आदि वैदिक देवोंके नामके दर्शन होते हैं।[4]

छठीं शताब्दी ईसा पूर्वमें भारत और पश्चिमी देशोंके बीच और अधिक घनिष्ठ सम्बन्धका सूत्रपात हुआ। ५३८ ई० पू० में बाबुल साम्राज्यके पतनके बाद सिरसने ईरानी सामाज्यकी स्थापना की और उसके यशस्वी उत्तराधिकारी दाराने ५१० ई० पू० में यूनान और सिन्धु घाटीको अपने साम्राज्यका अभिन्न अंग बना लिया और स्काइलॉक्स नामक यूनानी व्यक्तिको सिन्धु नदीकी गतिका अध्ययन करनेके लिए समुद्र-कप्तानके रूपमें नियुक्त किया। उसने 'भारत'के विषयमें ५१० ई० पू० में एक ग्रन्थ लिखा जिसे पाश्चात्य व्यक्ति द्वारा भारतके विषयमें लिखित प्रथम ग्रन्थ होनेका गौरव प्राप्त है। इस प्रकार छठीं शताब्दी

---

१. मित्र और मिथ्र दोनों एक ही देवताके नाम हैं।
२. पहली बार मित्रका प्रभाव सैलिमन तक पहुँचा था किन्तु शताब्दियों पश्चात् असीकिद् राजवंशके कालमें इसका प्रभाव समस्त रोमन जगत्में व्याप्त हो गया।
३. किंग १०।२२. डॉ० राधाकृष्णन् ईस्टर्न रेलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट पृ० १२१ पर उद्धृत।
४. हेरोडोटस ४.४४१।

ईसा पूर्वसे ही यूनानियोंको भारतका प्रामाणिक ज्ञान उन्हींके एक सजातीय द्वारा मिलना प्रारम्भ हो गया।

४८० ई० पू० में यूनान पर आक्रमणके समय दाराकी सेनामें अत्यधिक मात्रामें भारतीय सैनिकोंकी उपस्थिति, पाँचवी शताब्दी ई० पू० मम्फिसमें शिल्पियों द्वारा निर्मित भारतीय लोगोंके सिरोंकी प्राप्ति तथा ५१० ई० पू० रचित स्काइलॉक्सके ग्रन्थ इस बातके साक्षी हैं कि छठीं शताब्दी ई० पू० में ही यूनान और भारतके बीच राजनैतिक सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें घनिष्ठ सम्बन्धोंकी स्थापना हो चुकी थी। यूनानमें दार्शनिक चिन्तनका प्रादुर्भाव और होमर द्वारा वर्णित परम्परागत धर्मके विरुद्ध विद्रोह भी इसी युगकी घटनाएँ हैं। यहाँ हमें यूनानके महान् दार्शनिक जेनोफनीज, पोर्मनाइडीज, जेनो और एनेक्जेगोरस आदिका दर्शन होता है जिन्होंने यूनानके तत्त्वशास्त्रकी नींव डाली जो उपनिषदोंके तत्त्वशास्त्रसे बहुत अधिक साम्य रखता है।[1]

यूनानी दर्शनके ऑर्फिक, इल्यूसियन, पाइथागोरियन आदि रहस्यवादी निकायोंकी भी उत्पत्ति इसी युगमें हुई जिन्होंने आगे चलकर यूनानी दर्शनके मूलभूत सिद्धान्तोंकी संरचनामें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन निकायोंने सिकन्दर महान्, जूलियस सीजर और युरिपाइडोजके बक्खियोंको[2] अत्यधिक प्रभावित किया। पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें भी हमें यूनानी लिपिका उल्लेख मिलता है।[3] प्लेटोके मित्र और उस युगके महान् ज्योतिषी यूडॉक्सस[4]-की भारतीय दर्शनमें गहरी अभिरुचि थी। एरिस्टोजेनसके ग्रन्थमें हमें एक ऐसी परम्पराका[5] उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार भारतीय दार्शनिक एथेंस

---

१. जावो-इण्डिशे एलिमेण्टे इन प्लॉटिनिशेन नियोप्लेटोनियस स्कालॉस्टिक १३ (१९३८) ५७-९६।
२. एफ० लेग्गे–फोर्टनर्स एण्ड राइवल्स ऑव क्रिश्चियेनिटी (१९१५) भाग १ पृ० १२३।
३. यावनानि लिपिः। पाणिनि-अष्टाध्यायी ४.१.४९।
४. पिलानी-नेचुटल हिस्ट्री ३०.३।
५. यूसेबियस-प्रपेरियो इवेन्जेलिका ११.३।

एरिस्ट्रॉजेनस अरस्तूके शिष्य थे। उनका काल लगभग ३३० ई० पू० है। यूसेबियस (३१५ ई०) ने एरिस्टॉजेनस के एक कथनका उल्लेख किया है जिसके अनुसार भारतीय दार्शनिक एथेंस गये थे और सुकरातसे वार्तालाप भी किये थे। उनमेंसे एकने सुकरातसे उनके दर्शनक कार्यक्षेत्र

गये थे और सुकरातसे संलाप भी किये थे। चौथी शताब्दी ई० पू० से सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्य इस बातको सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है कि उस युगमें भारतीय दर्शनके सिद्धान्तोंका यूनानमें कितना अधिक प्रचार था।

३२७ ई० पू० में भारतपर सिकन्दर महान्के आक्रमणने यूनान और भारतके सम्बन्धोंके इतिहासको एक नया मोड़ दिया। यह न केवल सेनाका अभियान था अपितु विचारोंका भी अभियान था। सिकन्दर महान्के साथ पाइटो और ओनेसिक्राइटस नामके दार्शनिक भी आये थे जिन्होंने भारतीय दर्शनका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया और कैलेनस तथा अन्य भारतीय दार्शनिकोंको अपने साथ ले गये। इस घटनाने प्लेटोकी अकादमीके स्वरूपको पूर्णरूपसे बदल दिया। इस समयसे अकादमीमें प्लेटोके दर्शनके स्थानपर पाइटोके दर्शनका अध्ययन होने लगा और यूनानी 'सुखमय जीवन'के आदर्शका स्थान आत्मिक सुख (Impertability of soul) के आदर्शने ग्रहण किया। अर्थात् दार्शनिकोंका लक्ष्य सुखकी खोजके बजाय आत्म-सन्तुष्टि हो गया।

एशिया-विरोधी इस अभियानने सिकन्दरके यूरोप और एशियाके एकीकरण-के सपनेको साकार कर दिया। सूसाके प्रीतिभोजके अवसरपर सिकन्दर महान् और दाराकी पुत्री स्टैटिरा तथा यूनानी सैनिकों एवं ईरानी कन्याओंके बीच जिस ऐतिहासिक विवाह-संस्कारका समायोजन हुआ उसने दोनों महाद्वीपोंके बीच रक्त-सम्बन्धकी स्थापना कर उन्हें एक सूत्रमें पिरोदिया।

भारतीय राजनैतिक आकाशपर चन्द्रगुप्त मौर्यके उदयने इस सम्बन्धको एक नया मोड़ दिया। सिकन्दर और उनके सैनिकोंके साथ ईरानी कन्याओंके एक पक्षीय विवाहसे एशियाके सम्मानपर जो गहरा धब्बा लगा था उसे सिकन्दर महान्के प्रधान उत्तराधिकारी सेनापति सिल्यूकस निकाटोर (तीसरी शताब्दी ई० पू०) की पुत्री हेलेनके साथ चन्द्रगुप्त मौर्य तथा यूनानी कन्याओंसे भारतीय सैनिकोंके विवाह-संस्कारने सदैवके लिए धो दिया और दोनों देशोंके

पूछा। सुकरातने उत्तर दिया कि मानवीय प्रपञ्चकी खोज (ऐन इन्क्वायरी इण्टु ह्यूमन फेनामेनन)। भारतीय दार्शनिकने हँसते हुए कहा कि 'हमें मानवीय प्रपञ्चका ज्ञान कैसे हो सकता है जबकि हम दैवी आत्मासे अनभिज्ञ हैं।

बर्नर जोगर 'ग्रीक्स एण्ड ज्यूज'।
जर्नल ऑव रेलिजन अप्रैल १९३८ पृ० १२८।

बीच इतिहासमें पहली बार राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप मेगस्थनीज राजदूत बनकर भारत आया और सहस्रों यूनानी रमणियाँ भारतीय महलोंकी शोभा बढ़ाने लगीं। मेगस्थनीजने जो ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है उससे भी पता चलता है कि भारतीय और यूनानी सिद्धान्त बहुत-सी बातोंमें एक दूसरेसे मिलते-जुलते थे।[1] मेगस्थनीजके सम्राट् एण्टियाकस प्रथमने प्लेटिया निवासी डायमाकसको सम्राट् बिन्दुसारका तथा मिश्रके सम्राट् टालमी फिलाडेल्फसने डायनोसियसको राजदूत बनाकर भेजा। डायनोसियस १८५ ई० पू० से २४७ ई० पू० तक रहा।[2]

अशोक महान्‌ने २७० ई० पू० में मगधके राजसिंहासनको अलंकृत किया। उन्होंने सिकन्दर महान् द्वारा आरम्भ किये गये सैनिक-अभियानको शान्ति-अभियानके रूपमें परिवर्तित कर दिया। उन्होंने पाटलिपुत्रमें एक धर्मसंगीति बुलायी जहाँ यह निश्चय किया गया कि बौद्धधर्मके प्रचारके लिए विविध देशोंमें प्रचारकोंको भेजा जाये।[3] इस निश्चयके अनुसार निम्नलिखित पाँच पश्चिमी देशों—अर्थात् सीरियाके सम्राट् ऐण्टियाकस थीयस, मिश्रके सम्राट् टाल्मी फिलाडेल्फस, मक्दूनियाके सम्राट् ऐण्टिगानस गण्टोज, सीरीनके सम्राट् मैगस तथा इपीटसके सम्राट् सिकन्दर[4]के पास शिष्टमण्डल भेजे गये। इन शिष्टमण्डलोंका बहुत ही सम्मान किया गया।

१९०-१८० ई० पू० में डेमेट्रियसने यूनानी साम्राज्यका भारतकी सीमा तक पुनः विस्तार किया जिसके फलस्वरूप सिन्ध और काठियावाड़ उसके साम्राज्यके अंग बन गये।

इन शताब्दियोंमें भारतमें बसनेवाले हजारों यूनानियोंका भारतीकरण हुआ जिसके फलस्वरूप वे भारतीय धर्म और दर्शनको ही अपना धर्म और दर्शन समझने लगे। १४० ई० पू० में हेलियाडोरस द्वारा वासुदेव-स्तम्भकी

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव् इण्डिया भाग १ (१९२२) पृ० ४१९-४२०।

२. प्लाइनी नैचुरल हिस्ट्री ६.२१

३. बौद्ध-धर्मकी तीसरी धर्म-संगीति तिस्स मोग्गलिपुत्रकी अध्यक्षतामें पाटलिपुत्रमें हुई।

४. अशोक त्रयोदश चट्टान-स्तम्भ—डॉ० राधाकृष्णन, ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट् पृ० १५ पर उद्‌धृत।

स्थापना[1] सम्राट् मिलिन्द[2] एवं सम्राट् कनिष्ककी बौद्ध-धर्ममें दीक्षा इस बातके स्पष्ट प्रमाण हैं।

इतिहाससे हमें इस बातका भी बोध होता है कि एशिया माइनरके सम्राट् एलेक्जेण्डर पॉलिहिस्टरको बौद्ध-धर्मका पर्याप्त ज्ञान था। १५७ ई० पू० में महान् स्तूपकी स्थापनाके समय सम्राट् दुत्थगामिनिके निमन्त्रणपर यवन देश (यूनान) के एक वरिष्ठ पुरोहितने अपने तीस हजार अनुयायियोंके साथ प्रतिष्ठापन-समारोहमें भाग लिया था।[3] और भारत-नरेश पौरसने सम्राट् आगस्टसके पास २० ई० पू० में एक राजदूत भेजा था जिसके साथ एक भारतीय दार्शनिक भी था।[4] तथा ट्याना निवासी अप्पालोनियसने ब्राह्मणोंसे मन्त्रणा प्राप्त करनेके लिए भारतकी यात्रा की थी।

प्लॉटिनसके सिकन्दरियासे रोमके लिए प्रस्थान करनेसे २५ वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग २२० ई० में लिखे हिप्पालिटसके[5] ग्रन्थमें ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें मैत्री उपनिषद्के दार्शनिक सिद्धान्तोंका विशद विवेचन है। इस प्रकारका ज्ञान सिकन्दरके इतिहासकारोंके विवरण मात्रके अध्ययनसे नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि इसमें दक्षिण भारतकी ताग वेन (तुङ्ग वेणा) नदीका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

---

१. हेलियाडोरस तक्षशिलाका निवासी था। उसे सम्राट् एण्टियलसिटसने सम्राट् काशिपुत्र भागभद्रके पास यूनानके राजदूतके रूपमें भेजा था। उसने ब्राह्मी लिपिमें अपना विवरण प्रस्तुत किया है—

डॉ० राधाकृष्णन्—ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट् पृ० १५६।

२. बौद्ध भिक्षु नागसेनसे प्रभावित होकर मिनेण्डरने बौद्ध-धर्ममें दीक्षा ली थी। पालि ग्रन्थ 'मिलिन्द पञ्ह'में इसका बहुत ही विशद वर्णन है।

३. संख्या अतिरंजित है।

४. स्ट्राबोने दमिश्क निवासी निकोलसको प्रमाण मानकर यह विवरण दिया है।

५. हिप्पालिटस एक ईसाई संत थे। उन्होंने 'सर्वधर्म-द्वेष-खण्डन' (रेपयुटेशन ऑव आल हेरिसीज) नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें उन्होंने लिखा है कि ब्राह्मण लोग तागवेन नदीका जल पीते हैं। यह नदी महाभारतमें वर्णित तुंग-वेणा नदी ही हो सकती है। आदि शङ्कराचार्यने इस नदीके तटपर शृङ्गेरी मठकी स्थापना की है जो आज भी विद्यमान है।

नव्यप्लेटोवादके संस्थापक प्लॉटिनस[1] स्वयमेव इस बातके लिए आतुर थे कि उन्हें भारतीय दर्शनका ज्ञान गुरुमुखसे प्राप्त हो सके और इसी उद्देश्यसे उन्होंने सम्राट् गोर्डनके ईरान-विरोधी अभियानमें २४२ ई० में भाग लिया था किन्तु मेसापोटानियामें सम्राट्की अचानक मृत्यु हो जानेके कारण उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। प्लॉटिनसके यशस्वी शिष्य पार्फाइटीको भारतीय दर्शनका पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने बार्देसानीज (Bardesanes) के ग्रन्थके आधारपर भारतीय दर्शनके प्रमुख सिद्धान्तोंका अपने ग्रन्थ 'डि ऐब्स्टिनेन्थिया' (De abstinentia) में विशद रूपमें विवेचन किया है।[2]

इन ऐतिहासिक तथ्योंके आधारपर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नव्यप्लेटोवादके सिद्धान्तोंके विकासमें भारतीय दर्शनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है और नव्यप्लेटोवाद उस धार्मिक समन्वयवादका परिणाम हो सकता है जिसकी उत्पत्ति सिकन्दर महान् और रोमन सम्राटोंके विजयस्वरूप हुई।[3] प्राच्य विद्याके आधुनिक अधिकारी विद्वानोंकी भी यही सम्मति है जिनके अनुसार यूनान और भारतके दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त उपमाओं और रूपकोंके साम्यकी व्याख्या मात्र प्लॉटिनस-पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकोंके दर्शनके आधारपर सम्भव नहीं।[4] किन्तु इस विषयपर अन्तिम रूपसे कोई निर्णय देनेके पूर्व हमें इन भावी अनुसन्धानकर्त्ताओंके अनुसन्धानोंकी प्रतीक्षा करनी चाहिए जो भारतीय और यूनानी परम्पराओंके अधिक गम्भीर पाण्डित्यसे अनेकानेक रहस्योंका उद्घाटन करनेमें समर्थ हो सकेंगे।[5]

●

---

१. कुछ इतिहासकारोंका कथन है कि नव्यप्लेटोवादकी स्थापना अम्मोनियस सैक्कसने की थी। प्लॉटिनस उनके शिष्य थे।

२. बार्दासेनीजको भारतीय दर्शनका ज्ञान उनके देशके सम्राट्के भारतीय दूतावाससे तीसरी शताब्दीके आरम्भमें प्राप्त हुआ था।

मिस्टिसिज्म एण्ड कैथोलिसिज्म पृ० ४१८। डॉ० राधाकृष्णन्के ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट् पृ० २१५ से उद्धृत।

३. डॉ० राधाकृष्णन् ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट् पृ० २०८।

४. ऑर० टी० वालिस नियोप्लेटोनिज्म पृ० १५।

५. वही पृ० १५।

विरूपाक्ष-पञ्चाशिका

(सार-संक्षेप)

—स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती—

भगवान् शंकरने समग्र विश्वका कल्याण करनेके लिए अनुग्रह करके विरूपाक्ष नामसे अवतार ग्रहण किया था। दर्शन करनेमें उनका शरीर सुन्दर और इन्द्रिय-गोलक आकर्षक नहीं थे। अतएव उनका नाम विरूपाक्षनाथ प्रसिद्ध हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि बाहरके शरीरमें सुन्दरता, मधुरता या आकर्षण न होनेपर भी अंग-प्रत्यंगके अन्तरंगमें उनके रग-रगकी रंग-तरंगमें, एक निरतिशय महिमा भरपूर थी। बाह्य दृष्टिसे वे व्यक्ति थे, परन्तु अन्तर्दृष्टिसे वे परमेश्वर।

एक बार स्वच्छन्द विचरण करते हुए विरूपाक्षनाथ देवताओंकी राजधानी अमरावतीमें पहुँच गये। उन्होंने देखा कि सुरपति महेन्द्र अपने मनोविनोदके लिए हाथियोंकी लड़ाई देख रहे हैं। इन्द्र समझते थे कि हमको कितना ऐश्वर्य, सम्पदा और गौरव प्राप्त है। विरूपाक्ष इन्द्रके सम्मुख आकर खड़े हो गये। इन्द्रने पूछा—'तुम कौन हो?' विरूपाक्ष—'मैं महेश्वर हूँ। मैं परमेश्वर हूँ।' इन्द्र—'तुममें क्या ऐश्वर्य है?' विरूपाक्ष—'अच्छा देखो।' उन्होंने बड़े-बड़े दो पर्वत प्रकट कर दिये। वे दोनों परस्पर टकरा रहे थे। एक-दूसरेको टक्कर मार रहे थे। कहाँ हाथियोंकी लड़ाई, कहाँ पर्वतोंकी। इन्द्रका अभिमान टूट गया। वे विरूपाक्षकी शरणमें आये। विधि-पूर्वक दीक्षा ग्रहण की। विरूपाक्षने अपने शरणागत शिष्य इन्द्रके प्रति पचास श्लोकोंमें उपदेश किया। उसी पुस्तकका नाम 'विरूपाक्ष-पञ्चाशिका' है। प्रथम और अन्तिम दो श्लोकोंमें उपक्रम, उपसंहार है। एक श्लोक प्रासंगिक है। शेष सब उपदेशरूप हैं। विरूपाक्षने इन श्लोकोंमें अपनी सिद्धिका रहस्य बतलाया है।

इस अल्पकलेवर ग्रन्थपर श्रीविद्याचक्रवर्तीकी टीका है। अभीतक इस ग्रन्थका हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ है। मूल ग्रन्थ (संस्कृत टीका) वाराणसेय संस्कृत-विश्व-

विद्यालयसे मुद्रित हुआ है। ग्रन्थकी शैली और प्रक्रिया जिज्ञासुओंके लिए एक नूतन एवं अद्भुत विचारप्रणाली समर्पित करती है। अतएव इस ग्रन्थ-का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया जाता है।

पहला प्रश्न यह है कि इस शरीरसे कोई पृथक् तत्त्व है? इस-पर विरूपाक्षजीका यह उत्तर है— शून्यसे लेकर पृथिवीपर्यन्त जो कुछ मालूम पड़ रहा है वह आत्मचैतन्य-का शरीर ही है। बात यह हुई कि मैं ज्ञाता हूँ; मैं ग्रहण करनेवाला हूँ— इस अभिमानके कारण देहके बाहर और देहके रूपमें भी अन्य जड़ वस्तु-की प्रतीति होती है। इसपर थोड़ा ध्यान दीजिये। तुम्हें यह मांसपिण्ड शरीर आत्मा क्यों मालूम पड़ता है? ज्ञातापनेके अभिमानसे तुमने अपने आपको परिच्छिन्न मान लिया है। यदि यह विचार किया जाय कि चाहे शरीर हो या उसके बाहर, जो कुछ मालूम पड़ता है वह दृश्यके रूपमें एक है। यह देह या बाह्य संसारका भेद आत्माको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। देहावच्छिन्न और विश्वा-वच्छिन्न चैतन्य एक है। दृश्य होनेके कारण शरीर और विश्व एक हैं। अतः यह शरीर ही मेरा शरीर नहीं है, सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है। विश्व ही शरीर है—यह प्रतिज्ञा है। दृश्यता हेतु है। अतएव विश्वका शरीर होना युक्तिसिद्ध है। जैसे मनुष्य कभी नीला-पीला आदि रूप देखना चाहता है; तो उस समय वह केवल उसी-उसी रूपका ज्ञाता हो जाता है। परन्तु ज्ञाताकी यह परिच्छिन्नता नीले-पीले रूपकी उपाधि-से है, स्वयं नहीं है। जब यह सभी वस्तुओंको सामान्य रूपसे अनुसन्धान-का विषय बनाता है, तब इसका प्रकाश अवच्छेदरहित, अपरिच्छिन्न होता है। जो देश-कालादिका प्रकाशक है, वह उनसे परिच्छिन्न हो ही नहीं सकता। तब समस्त विश्व दृश्य होता है और वही अपना शरीर होता है। यदि सम्पूर्ण विश्व दृश्यरूपसे अपना शरीर न हो तो यह मांसपिण्ड भी अपना शरीर नहीं हो सकता क्योंकि दोनोंकी स्थिति एक ही है। अतएव जब मैं कुछ विषयोंका ज्ञाता हूँ, यह परिच्छिन्न अभिमान गल जाता है, तब यह सम्पूर्ण विश्व ही आत्म चैतन्यका शरीर है, ऐसा अनुभव होने लगता है। देहाभिमान ही पूर्णताकी अनुभूति-में प्रतिबन्ध है।

इस प्रसंगमें एक विचार उदय होता है। क्या केवल दृश्य होनेसे ही हम देहको अपना देह मानते हैं? ऐसा तो नहीं है। देह अहम्‌के रूपमें मैं-मैं प्रतीत होता है। यह मांसपिण्ड मैंके रूपमें जान पड़ता है। और विश्व इदम्, यहके रूपमें जान पड़ता है। 'मैं' और 'यह'का भेद होनेसे देह और विश्व अलग-अलग हैं, एक

नहीं। इस प्रश्नका उत्तर आगे दिया जाता है।

यह आत्मचैतन्य घर, खेत, धन-धान्यके कारण समझता है कि मैं सम्पन्न हूँ। शरीर दुबला हो तो मान बैठता है कि मैं कृश हूँ। मेरी आँखोंमें आँसू हैं, शरीरमें रोमाञ्च है, मैं बड़ा प्रेमी हूँ। अन्तःकरण सुखाकार होता है और यह मानता है कि मैं सुखी हूँ। वायु शरीरके भीतर आती-जाती है और यह मानता है कि मैं प्राणी हूँ। सुषुप्तिकी माया, मैं शून्य हूँ, इस अनुभवका कारण बन जाती है—इन अवस्थाओंमें अस्मिता = मैंपनेका अभिमान अपने ही अनुभवसे सिद्ध है। यदि इसी प्रकार, जो देहके बाहर स्थित है, उससे भी मैंपनेका अभिमान बनता है तो विश्वरूप विषय भी अपना ही शरीर है क्योंकि शरीरके समान ही वह भी दृश्य है। यदि अहम्‌का मैंपनेका अभिमान न हो तो देह, इन्द्रिय आदि भी शरीर नहीं हैं। अतएव देह मैं है और बाहरकी वस्तुएँ यह हैं, ऐसी विषमताका निश्चय करना युक्तियुक्त नहीं है। अपने स्वरूपका विमर्श अथवा अनुसन्धान न करनेके कारण ही शरीर और विश्वका भेद मालूम पड़ता है। यह एक धोखा है।

यह जो छह स्थानोंमें अस्मिता अर्थात् मैंपन देखा जाता है, वह अपने स्वरूपका विमर्श न करके मैंपनेका संवेदनमात्र ही है। ये छह हैं—सम्पत्ति, कृशता, स्नेह, आनन्द, जीवन और शून्यता। इनमें मैंपना एक धोखा है। ठीक है, फिर भी इन छहोंमें तो अस्मिता होती है, सर्वत्र नहीं। इसका उत्तर है—विषय, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और निरोध इन सबमें अस्मिता, अहंता किसकी होती है? चेतनकी ही तो। तब केवल परिच्छिन्न विषयोंमें ही क्यों? समस्त विषय, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और सुषुप्ति, समाधि आदि निरोध-दशाएँ अपनी ही अस्मिताके विषय क्यों नहीं? इसका अभिप्राय है कि जैसे हम एक शरीरको अपना शरीर मानते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वको अपना शरीर मानना चाहिए। शिवसे लेकर पृथिवी-पर्यन्त अपना ही शरीर है। दृढ़तासे इस नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञा = पुनः स्मृतिका अनुसन्धान करना चाहिए। ग्राहक = ज्ञाता विश्व शरीर नहीं है। जो किसीसे अवच्छिन्न होनेवाली चिति नहीं है; वह केवल विशेष विषयको ही अस्मिताका विषय नहीं बना सकती, वह सभीको अपनी अस्मिताका विषय बना सकती है। यदि तुम यह विमर्श करो कि यह आत्मचिति सर्वग नित्य-सिद्ध परिपूर्ण मैं ही है, तो इसकी दृढ़ता हो जानेपर सम्पूर्ण विश्व अपने शरीरके रूपमें जान पड़ेगा। पहले भी ऐसा ही था। अब पुनः प्रत्यभिज्ञा हो जायेगी।

अच्छा ! ऐसा है। तब तो सभी विश्व शरीर हैं। किन्तु ऐसा अनुभव-में नहीं आता। क्यों ? इस पिण्ड-शरीरमें ही अहंता परिनिष्ठित हो गयी है। यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें देहकी अंहताको अन्यथा कैसे किया जा सकता है ? इसका उत्तर सुनिये। यह लोकसिद्ध अनुभव है कि मनुष्य जब मरने लगता है तब मालूम पड़ता है कि उसके प्राण कण्ठमें आकर अटक गये हैं। पूरे शरीरका प्राण कण्ठगत कैसे हो गया ? इसीको जीवन्मृत कहते हैं। ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व अपना शरीर है—शिवसे लेकर पृथिवीतक। अपने स्वरूपका विमर्श न करनेके कारण सम्पूर्ण विश्वमे रहते हुए भी मानों उसके एक भाग, एक शरीरमें अपनी अहंता संकुचित हो गयी है। शरीर है सम्पूर्ण विश्व किन्तु एक देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिमें अपनी अहंता, अस्मितारूढ=परिपक्व हो गयी है। सचमुच यही दशा है, जीवन्मृतके समान। इस बातको हम काटते नहीं, परन्तु इसके कारण पर विचार करनेसे ज्ञात होता है, अपने स्वरूपका विमर्श न करना अर्थात् माया ही इसका कारण है। विमर्श प्राप्त हो जानेपर आत्मा विश्व-शरीर शिव ही है।

देखो—तुम अपनेको समझते हो ज्ञाता। देहमें मैंपना करके बैठे हो। तुम स्वच्छन्दतासे, स्वेच्छासे, अपने दोनों हाथोंसे ताली बजा सकते हो। सचमुच ! तुम एक शरीरमें मैं करके इन्द्र बनकर बैठे हो। मैं चैतन्यात्मा हूँ। सम्पूर्ण जगत् मेरा शरीर है। जैसे तुम अपने दोनों हाथ परस्पर टकरा सकते हो, वैसे मैं दोनों पहाड़ों-की टक्कर करा सकता हूँ। हाथोंसे ताली बजनेका कारण क्या है ? देहमें दृढ़तासे अहम् भाव और इच्छा, और कोई कारण नहीं है। मेरा सम्पूर्ण विश्वमें दृढ़ अहम् भाव और इच्छा है। विश्वमें मेरा अभिनिवेश है, यही कारण है कि मैं दो पर्वतोंको परस्पर लड़ा सकता हूँ। तुमको यह अनैश्वर्य कहाँसे प्राप्त हुआ ? जगत्में अहम्का अभिनिवेश शिथिल होनेसे। ईश्वर अनीश्वरकी भाँति हो गया। अपनी ईश्वर-भावनाको दृढ़ करो। तुम्हारा नित्यसिद्ध ऐश्वर्य प्रकट हो जायेगा।

यह प्रश्न उठता है कि केवल अस्मिता अर्थात् अहम्-भाव और इच्छामात्रसे ही हाथोंसे ताली नहीं बजायी जाती। उसमें तो बिन्दु, प्राणादिकी चेष्टा भी सामग्रीके रूपमें विद्यमान है। पर्वत-संचालनमें क्या चेष्टा है ? इसका उत्तर यों समझिये। तुम्हारी अहंता बिन्दु, प्राण, शक्ति, मन, इन्द्रियमण्डल और शरीरमें प्रवेश करके सबको चेष्टायुक्त बना रही है। सम्पूर्ण विश्वको तुम्हीं चेष्टावान् बना रहे हो। ज्ञाता और ज्ञेयकी विशेष

प्रतीतिका उदय होनेके कारण स्वरस-वाहिनी दृश्यमान, सामान्य, सूक्ष्म अहम् प्रतीतिको ही बिन्दु कहते हैं। जो अभिमान-अध्यवसाय आदि रूप अन्तःकरणको धारण करता है, वह प्राण है। बुद्धि और अहंकार शक्ति है। आत्म-चैतन्य अपने किंचित् स्पर्श-की महिमासे इन सबको स्पन्दित-चेष्टित करता है। इस आत्म-चैतन्य-को अहम् रूपसे सर्वत्र धारण करो। जिस दृढ़तासे शरीरमें, उसी दृढ़तासे सर्वत्र। सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा शरीर है। सारी सिद्धियाँ तुममें नित्यसिद्ध रूपसे निवास करती हैं।

अब प्रश्न यह है कि यह जो अहंता है, भावना मात्रसे ही इसका विकास सम्पन्न होता है। इसमें ईश्वरत्व, कर्तृत्व आदिका स्वभावसिद्ध धर्मोत्कर्ष नहीं है। अतः ऐसी सिद्धि कैसे सम्भव है? आपका प्रश्न ठीक है। इसका उत्तर यह है कि यह जो विश्वमें अहंताकी प्रत्यभिज्ञा होती है, वही ईश्वरता, कर्तृत्व, स्वातन्त्र्य और चिन्मयता है। शास्त्रोंमें जो ऐश्वर्य या सिद्धियोंका वर्णन है, वह अहंता-मय ही है। अतः ईश्वर आदि शब्द पर्यायवाची हैं। अहंतामें ईश्वरत्व आदिके अनुभवपर अनास्था मत करो। जैसे-जैसे प्रत्यभिज्ञा दृढ़ होती है वैसे ही वैसे नित्यसिद्ध ईश्वरत्व, कर्तृत्व आदि सिद्धियोंका आविर्भाव होता है।

(सावशेष)

वेदान्तामृत

धन्य-धन्य गुरो!
अहाहा! ओहोहो!
न यह
न वह
न मैं, न तू
न नभ, न भू
न जल, न थल
न पावक, न पवन
न लोक, न भुवन
न ज्ञाता, न ज्ञान
न ध्याता, न ध्यान

न ज्ञेय, न ध्येय
न हेय, न प्रेय
न बुद्धि, न मन
न प्राण, न तन
न ममकार
न अहंकार
न आता, न जाता
न करता, न कराता
न दृष्टि, न द्रव्य
न सृष्टि, न स्रष्टा
फिर? फिर क्या···??

एकमात्र आनंदसिंधु तरंगायमान!
अखंडानंदाम्बुधि तरंगायमान!!

— श्री बालकृष्ण गर्ग —

गीतामें कर्मका सन्देश

डा० वि कृष्णस्वामी अय्यंगार

रीडर : केन्द्रिय हिन्दी संस्थान, आगरा–५

भारतीय दर्शन कर्मवादी हैं। हमारी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने कर्मके अनुरूप शुभ या अशुम फल मिलता है। कर्मका फल भोगना अनिवार्य है। भोगसे ही कर्मका क्षय होता है। **अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।** यही हमारे भाग्यवादका आधार है। भाग्यवाद यह नहीं बताता कि किसी अदृष्ट शक्तिके प्रभावसे हमारे जीवनकी व्यवस्था या योजना अस्तव्यस्त हो जाती है। भाग्यवाद तो सिर्फ यही बताता है कि हमारा जीवन हमारे कर्मपर आधारित है। अतीतके कर्मका फल है वर्तमान। इसी प्रकार हमारा भविष्य भी वर्तमानके कर्मके आधारपर बनेगा। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि भारतीय कर्म-सिद्धान्त या भाग्यवाद हमें यह विश्वास दिलाता है कि हम स्वयं अपने भाग्यके निर्माता हैं। जब चाहें तब हम अपने कर्म सुधार-कर आत्मोन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकते हैं। कर्मवाद नयी आशाका प्रकाश फैलाता है; वह हमें भाग्यकी बेड़ियोंसे बाँधता नहीं।

शास्त्रोंमें कहीं-कहीं कर्मकी निन्दा तथा ज्ञानकी प्रशंसा की गयी है। कहा गया है कि कर्म बन्धनका साधन है। पाप-कर्म तो नरक-पातके कारण होकर मनुष्यको संसारके बन्धनमें बाँधते ही हैं; तथाकथित पुण्य-कर्म भी स्वर्गके कारण होनेसे सुख-संगके द्वारा बन्धनके हेतु बनते हैं। पाप यदि लौह-श्रृंखला है, तो पुण्य स्वर्णमय श्रृंखला है। वेदान्तदेशिकने यही एक प्रश्नके रूपमें कहा है—**कस्मै स्वदेत सुख सञ्चरणोत्सुकाय, कारागृहे कनकशृङ्खलयापि बन्धः ?** तो यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों प्रकारके कर्म मोक्षके मार्गमें बाधक हैं। यह शास्त्रोंसे प्रमाणित सत्य है। सर्वकर्म-क्षयके बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। यह सर्वकर्म क्षय कैसे हो सकता है ?

इस विषयमें शास्त्रकारोंका कहना है कि ज्ञानसे सर्व कर्मोंका निःशेष क्षय हो जाता है। श्रुति ही इसका प्रमाण है। **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,**

नान्यः पन्था अयनाय विद्यते। तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है। अतः तत्त्वज्ञान कर्मोंका नाशक भी है। गीतामें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि इन्धनकी राशिको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि भी समस्त कर्मोंको जला डालती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
[गीता, ४-३७]

कृष्णका कहना है कि यदि तुम संसारके सबसे बड़े पापी हो, तब भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम ज्ञानरूपी प्लव या नौकाको पाकर इस पाप-सागरको आसानीसे पार कर सकते हो—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
[गीता, ४.३६]

ज्ञानकी कर्मनाशन-शक्ति असीमित है। नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। इस प्रकार शास्त्रोंमें तत्त्वज्ञानकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। ज्ञानकी पवित्रता या आवश्यकतामें कोई भेद नहीं है।

अब यह सवाल रह जाता है कि ज्ञानके द्वारा अतीतके संचित कर्मका नाश तो हो सकता है, किन्तु प्रारब्ध या आगामीका नाश कैसे होगा? प्रारब्ध उस कर्मको कहते हैं जो फल देने लगा है। वर्तमान जीवनके सुख-दुःख इसी प्रारब्ध कर्मके परिणाम हैं। तत्त्वज्ञानीका शरीर तो बना रहता है; जबतक शरीर है, तबतक सुख-दुःखका अनुभव भी होता रहता है। वह जबतक जीवित है, तबतक कुछ कर्म करता भी रहता है—नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। तो ज्ञानी होनेपर भी इस कर्मसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रारब्ध-कर्मके बारेमें यह समाधान दिया जा सकता है कि वह तो फलानुभवसे ही नष्ट होगा। उसका नाश करनेके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। किन्तु आगामी कर्मकी समस्याका क्या हल है? क्या यह माना जाय कि कर्म न करना—निष्कर्मा बनकर रहना—इसका उपाय है? तब तो मुमुक्षुको पापकी तरह पुण्यका भी वर्जन करना चाहिए। चोरी करना, झूठ बोलना आदि निषिद्ध कर्मोंके समान देवपूजा सन्ध्या-वन्दन, वेदपाठ आदि सत्कर्मोंका भी त्याग करना होगा। सम्पूर्ण निष्क्रियताको ही सिद्धिका द्वार मानना होगा। क्या यह

समाधान उचित है ? अर्जुनको यही शंका हुई। उसने पहले स्वजनोंकी हत्याको घोर पाप समझकर युद्ध न करनेका इरादा व्यक्त किया। कृष्णने समझाया कि यह तो क्षत्रियका धर्म है; यह 'स्वर्गद्वारमपावृतम्'—महान् पुण्य कर्म है। फिर कृष्णने ज्ञानकी प्रशंसा की। इससे संशयापन्न होकर अर्जुनने पूछा कि यदि आपकी रायमें ज्ञान कर्मसे श्रेष्ठ है, तो मुझे ज्ञानका मार्ग अपनानेके बजाय ऐसा घोर कर्म करनेका उपदेश क्यों दे रहे हैं ? पूर्वापर विरोधी वचनोंसे मुझे मति-भ्रमका शिकार मत बनाइये। आपका निश्चित मत क्या है ? यही बताइये। अर्जुनके शब्द हैं —

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

[गीता, ३.१-२]

इस शंकाके उत्तरमें कृष्णने कहा कि निष्कर्मताका अर्थ कोई कर्म न करना या सर्वकर्मपरित्याग नहीं है। कर्मका त्याग करनेसे किसीको सिद्धि नहीं मिलती। कोई व्यक्ति एक क्षणके लिए भी कर्म किये बिना चुप नहीं रह सकता। अपनी प्रकृतिके अनुसार हर व्यक्ति कई प्रकारके कर्म करता है, उसे करना पड़ता है। अतः कर्मका परित्याग सम्भव नहीं है। कृष्णके शब्द हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

[गीता, ३.४-५]

यह सम्भव है कि कुछ लोग हठी होकर अपनी इच्छाके विरुद्ध, कुछ कर्मोंका परित्याग कर सकें। एकादशीका उपवास रखनेवाला एक व्यक्ति मिष्ठान्नका प्रेमी होकर भी एक दिनके लिए उसका त्याग करता है। इसी प्रकार कोई मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको दबाकर ब्रह्मचर्यका पालन करता है। क्या यह कर्मत्याग प्रशंसनीय नहीं है ? भगवान् कृष्ण इस प्रकारके सकाम कर्मत्यागको वाञ्छनीय नहीं मानते। इसे वे 'मिथ्या' कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ [गीता, ३.६]

तो फिर कर्मत्यागका अर्थ क्या है ?

श्रीकृष्णका मत है कि संग या आसक्तिका त्याग करना ही कर्मत्यागका तात्पर्य है। गीताका यही संदेश है कि कर्म मत छोड़ो; कर्म करना तो अनिवार्य है। लेकिन कर्मके फलकी कामनाको छोड़ो। यह कामना ही संग है। इसीको आसक्ति, मोह, लोभ या लालसा कहते हैं। फलकी इच्छा न रखते हुए, केवल कर्तव्यके भावसे कर्म करना ही 'निष्कर्मता'का उपाय है। कर्म न करनेसे निष्कर्मता नहीं आती; कर्म करनेसे ही निष्कर्मता प्राप्त होती है। कृष्णने कहा—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥
[गीता, ३.७-८]

शरीरधारणके लिए भी तो कर्म करना अवर्जनीय है। खाना-पीना, उठना-बैठना, आना-जाना, बोलना आदि क्या कर्म नहीं हैं ? इन सबका त्याग कर दें तो जीवित कैसे रहें ? तब तो सर्वकर्मपरित्यागका सीधा अर्थ प्राणत्याग ही निकलता है। आत्महत्याको कोई धर्म नहीं मानता। जीवित रहते हैं तो कर्म करना ही पड़ता है। किन्तु निष्काम-कर्म बन्धन नहीं होता। यह तो 'यज्ञ' है, भगवान्‌का आराधन है। कर्तव्यकी भावनासे लोककल्याणके लिए कर्म करना ही वास्तविक यज्ञ है। 'यज्' धातुका अर्थ है देवपूजा। इसके साथ संगतिकरण यानी लोकसमागम तथा दान भी सम्मिलित हैं—यज्–देवपूजासंगतिकरण-दानेषु। ईश्वरको सेवा ही यज्ञ है। यज्ञार्थ कर्म-बन्धन नहीं होता। स्वार्थके लिए हम जो कर्म करते हैं, वही बन्धन है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार॥ [गीता, ३-९]

संगको छोड़कर कर्म करो। यही कृष्णका उपदेश है।

लोकजीवनकी व्यवस्थाके लिए यज्ञोंका विधान किया गया है। स्वाध्याय, तपस्या, दान, परोपकार आदि कर्म भी लोकोपकारके लिए, समाजकी उन्नतिके लिए, मानवताके विकासके लिए शास्त्रोंसे विहित हैं। वर्णाश्रमकी कल्पना भी समाजके सुचारु संचालनके लिए ही की गयी है। यह सब व्यवस्था 'लोकहित' के मूल लक्ष्यको लेकर चली है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

[गीता, ३. ११]

जो व्यक्ति इस व्यवस्थामें सम्मिलित होकर अपनी शक्तिके अनुसार योगदान नहीं देता, प्रत्युत धर्मकी मिथ्या कल्पनाके कारण इस व्यवस्थामें व्याघात पैदा करता है, उसका सारा जीवन पापमय है; वह इन्द्रियोंका दास कहलाता है, उसका धर्माडम्बर मिथ्या है; उसका जीवन ही व्यर्थ है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

[गीता ३. १६.]

कृष्ण बार-बार यही कहते हैं कि कर्म करो। केवल आसक्ति या संगका ही वे निषेध करते हैं, कर्मका नहीं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥ [३.१९]
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ [३.२०]
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ [४. १९]
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ [४.२१]
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ [४.२३]
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ [५.२]

कृष्णने ज्ञानयोगको 'सांख्य' और निष्काम कर्मको 'कर्मयोग' अथवा सिर्फ 'योग' कहा है। पंचम अध्यायमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि सांख्य तथा योगमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक दूसरेके पूरक हैं, विरोधी नहीं हैं। अज्ञानी लोग ही इन दोनोंमें भेद करते हैं। विद्वान् पुरुष दोनोंकी मौलिक एकताको पहचानते हैं। कर्म और ज्ञानका फल एक ही है। कृष्णने जोरदार शब्दोंमें एकताकी व्याख्या की—

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ [गीता, ५.४,५]

कृष्णकी स्पष्ट घोषणा है कि निष्काम कर्म रूपी योगके बिना 'संन्यास'की प्राप्ति भी कठिन है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ [५ ६]

कृष्णार्पणकी भावनासे कर्म करनेपर वह बन्धन नहीं हो सकता। 'न कर्म लिप्यते नरे।' अतः अनासक्तिका अभ्यास करना अपेक्षित है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ [५.१०]

गीताके अष्टादश अध्यायमें यह बात और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहीं गयी है। यहाँ श्रीकृष्णने इस मतभेदका उल्लेख किया है कि कुछ विद्वान् कर्मको त्याज्य मानते हैं, तो कुछ और विद्वान् कर्मका त्याग स्वीकार नहीं करते। श्रीकृष्णका अपना सिद्धान्त तो यही है कि वेदोक्त कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। यज्ञ, दान और तपस्या तो अवश्य कर्तव्य हैं। इनका त्याग करना कदापि शास्त्रसम्मत नहीं हो सकता। त्यागका अर्थ है फलकी कामनाका त्याग। काम्य कर्मोंका न्यास यानी त्याग ही संन्यास है। त्याग तीन प्रकारका होता है। फलासक्तिको छोड़कर कर्तव्यकी भावनासे—लोकहितकी दृष्टिसे—कर्म करना सात्त्विक त्याग है। कर्म करनेमें काफी कठिनाई होती है; इससे भयभीत होकर कर्मका त्याग करना राजस त्याग है। मोह, प्रमाद या आलस्यके कारण कर्तव्यकी उपेक्षा करना तामस त्याग है। अतः श्रीकृष्णका मत है कि हर व्यक्तिको लोकहितके कर्ममें प्रवृत्त होना ही चाहिए। निवृत्ति-मार्गका अर्थ निष्क्रियता नहीं है। श्रीकृष्णका कथन है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

यज्ञदानतपः कर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तप' चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थं निश्चितं मतमुत्तमम्॥

[गीता, १८.२-६]

इससे अधिक स्पष्ट और क्या चाहिए? श्रीकृष्णका यही सन्देश है कि कर्म करो; कर्मसे विमुख होना कायरता है; क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते। किन्तु फलके लोभसे कर्म करना तो स्वार्थकी नीति है। वह यज्ञ नहीं है। फलकामनासे रहित, शुद्ध सेवा-भावसे कर्म करना ही सच्चा त्याग है, यही संन्यासका आदर्श है। केवल काषाय वस्त्र धारण करनेसे संन्यासकी सिद्धि नहीं होती। सर्व कर्मोंका भगवान्के चरणोंमें अर्पण करना ही संन्यास—सम्यक् न्यास—है। यही वास्तवमें शरणागति है। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः। इस प्रकार समग्र सन्दर्भमें देखें तो स्पष्ट होता है कि कर्म, ज्ञान, भक्ति और शरणागतिमें परस्पर विरोध या व्यावृत्ति नहीं है। बल्कि, वे एक दूसरेके पूरक हैं।

श्रीकृष्णने यह भी कहा कि मैं स्वयं इसी प्रकारका निष्काम कर्म कर रहा हूँ। मुझे किसी फलकी इच्छा नहीं है। फिर भी मैं सदा कर्ममें निरत हूँ। इसका एक उद्देश्य तो लोकहित है; दूसरा उद्देश्य है अपने आचरणसे लोगोंके सामने एक व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत करना। इसे कृष्णने 'लोकसंग्रह' का नाम दिया है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तः चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

[गीता, ३.२२-२५]

यही गीतामें कर्मका सन्देश है।

●

कालिय-दमन लीला

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

(सानुवृत्त)

→ननर्तेति श्रीमद्भा० १०-१६-२६ के प्रसंगमें

शास्त्रमें तथा लोक-व्यवहारमें अनुभवसे भी यह प्रसिद्ध है कि दुर्दर्प-सर्पका मद उतारनेके लिए गारुडास्त्रका प्रयोग करना चाहिए। यही सोचकर विलासशाली प्रभुने अपने गरुड़-ध्वज-चिन्हांकित चरणसे कालिय नागके सिरोंपर नृत्य किया।

दुर्दर्पसर्प-विमदीकरणाय शस्तं शास्त्रे जनेष्वनुभवादपि गारुडास्त्रम्।
आ चिन्तयन्निति पदा सविलासशाली प्रोद्यद्ध्वजेन किमनृत्यदहेः शिरस्सु ।।
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.५९)

श्रीकृष्णने विचार किया कि शंकरजीके नाममें 'शिव' पद है और मैं शिव अर्थात् कल्याणरूप पद हूँ। वे शरीरपर नाग एवं नागचर्म अर्थात् गजचर्म धारण करते हैं और मैं भी नाग-विग्रह माने कालिय नागसे विग्रह कर रहा हूँ। वे पशुपति हैं मैं भी पशुपति हूँ। उन्हें पर्वतपर रहना प्रिय है तो मुझे भी शेष पर्वतपर रहना। सन्त उनकी स्तुति करते हैं, मेरी भी। वे सर्वदा-उमाधव हैं और मैं सर्वदा माधव हूँ। वे ताण्डव नृत्य करते हैं, मेरा भी ताण्डव नृत्य करना उचित ही जान पड़ता है। जैसे यही सोचकर सर्वातिशायी प्रभुने कालिय नागके सिरपर चारुचित्र-ताण्डव-नृत्य किया।

नागालङ्कृतविग्रहः पशुपतिर्दुर्वर्णभूभृत्प्रिया-
वासः सद्विहितस्तुतिः शिवपदो यः सर्वदोमाधवः।
तस्यास्मिन् भुवने हि ताण्डवविधिर्युक्तो ममेत्यच्युत-
श्चित्रं तत्र चकार चारु सकलोत्तंसः सलास्यं तदा ।।
(श्रीभक्तिरसायनम् १६ ६०)

श्रीपति कृष्णने अपने हृदयमें देखा कि कालिय नागका सिर निःशेष रंग-मञ्चोंकी अपेक्षा उत्तम रंगमञ्च है; क्योंकि यह श्रेष्ठ रत्नोंकी दीपशिखासे

बाहर-भीतर प्रकाशित है। स्वर्णश्री ललित इसका भीतरी भाग है। अतएव इसीपर नृत्य करना चाहिए। भरत नाट्यके विशेषज्ञ और महाभारतके प्रेमी भी श्रीकृष्णकी यथार्थ महिमाका गान करते रहे हैं—

सद्रत्नौघलसत्प्रदीप्तिकलित प्रान्तान्तरङ्गं तथा
स्वर्णश्रीललितान्तरङ्गसुषमामध्याश्रितं तच्छिरः।
स श्रीशो हृदि रङ्गमेव कलयन्निःशेषरङ्गाधिकं
किं वा तत्र चकार नर्तनविधिं श्रीभारतेड्यस्थितिः॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६१)

मेरे प्यारे भक्तो! आप निरपराध हैं। आपसे जो द्वेष करता है या आपको मारना चाहता है, उस काल सर्पका दमन मैं ही करता हूँ।

यो युष्मान् द्वेष्टि भो भक्ता हन्तुमिच्छत्यनागसः।
तं कालसर्पं दमयाम्येवेतीशो व्यबाधयत्॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६२)

भगवान्की लीला स्पष्ट बताती है। जो मनुष्य संसारमें अपने इन्द्रिय-रूप ग्राम गोकुलमें एवं भुवन-वनमें भी आत्मानुसन्धानदर्शी होता है उसके लिए निखिल ब्रह्माण्ड खण्डोंसे भी कोई भय नहीं है। सबके लिए भय देनेवाले कालके सिरपर भी खेल-खेलमें चरण रखकर वह निर्भय हो जाता है, प्रत्युत कालको भी वह भयभीत कर देता है—

संसारे निजगोकुले च भुवनेऽप्यात्मानुसन्धानदृग्
यः स्यात्तस्य न भीतिरस्ति निखिलब्रह्माण्डखण्डादपि।
सर्वेषामविशेषतो भयपुषोऽपि स्यात्कृतान्तस्य हि
दत्वा मूर्ध्नि पदं सलीलमभयस्तद्भीतिदः प्रत्युत॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६३)

यद्यच्छिर इति (श्रीमद्भा० १०.१६.२८)

भागवतका कहना है कि कालिय नाग अपना जो सिर झुकाता नहीं था, नृत्य करते हुए श्रीकृष्णके चरण उसी सिरपर पड़ते थे, इसपर भक्त कवि कहते हैं कि श्रीकृष्ण अपनी लीलासे यह स्पष्ट सूचना दे रहे हैं कि मनमें बल-पूर्वक जिस-जिस वासनाका उदय हो उसे पदसे ऐसा दमन करना चाहिए कि उसका वीर्यमद नष्ट हो जाय। ऐसा करनेपर ही शत्रुपर विजय प्राप्त होती है और स्वयं भी साधक मुक्तिभागी हो जाता है—

या या बलादुदयमेष्यति वासना सा
दम्या पदेन तगवीर्यमदा यथा स्यात्।
एवं कृते रिपुजयो भवति स्वयं च
सन्मुक्तिभागिति तथेशकृतौ स्फुटार्थम्॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६४)

नारायणमिति (श्रीमद्भा० १०.१६.३०)

कालिय नाग नारायणकी शरणमें गया। इसपर कवि कहता है कि कालिय नागने विचार किया कि नारायण स्वयं जलायन हैं [संस्कृतमें 'नार' शब्दका अर्थ 'जल' होता है] और जड़ जगत् अथवा जल जगत्में रहनेवाली जनताकी रक्षा अवश्य करेंगे। यही सोचकर व्यवस्थित सर्प हृदयमें जलायन नारायणका चिन्तन करने लगा—

जडजात-जनावनात्तदीक्षः स हि योऽस्मिन्भुवने जलायनः स्यात्।
इति युक्तमहिः स पीडिताङ्गो हृदि नारायणचिन्तकस्तदाऽऽसीत्॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६५)

पत्न्य इति (श्रीमद्भा० १०.१६.३१)

जो प्राणी मेरे चरणोंकी शरण ग्रहण करता है वह भले शत्रु ही क्यों न हो किसी-न-किसी युक्ति-रीतिसे मैं उसके लिए भुवनमे कल्याणकारी हो जाता हूँ। प्रभुने यही भाव प्रकट करनेके लिए शरणागत नागके सुखके लिए उसकी पत्नियोंको द्वार बना लिया—

यो मत्पदं शरणमेति रिपोरपि स्यां श्रेयःप्रदोऽस्य भुवनेषु कयाऽपि गत्या।
संव्यञ्जयन्निति हरिः शरणागताहि-सौख्याय तस्य युवती कृतवान् समध्ये॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६६)

पुरस्कृतार्भा इति (श्रीमद्भा० १०.१६.३२)

वे अपने शिशुओंको भी आगे करके साथ ले आयीं; क्यों? दयालु पुरुषके हृदयमें जितनी शीघ्रतासे बालकके प्रति दयाका उदय होता है उतनी शीघ्रतासे वृद्ध, तरुण तथा स्त्रियोंपर नहीं होता। मनमें यह विचार करके नाग-पत्नियाँ अपने छोटे-छोटे शिशुओंको आगे करके भगवान्की शरणमें गयीं—

बाले यथा द्रुतमुदेति दया दयालोर्वृद्धे तथा न तरुणे न च वाऽबलासु।
इत्थं विचिन्त्य मनसाऽखिलनागपत्न्यः श्रीशं ययुः किमु पुरस्कृतनूत्नपोताः॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६७)

न्याय्य इति (श्रीमद्भा० १०.१६.३३)

हे परमेश्वर ! इस भोगी सर्पने अपने उग्र कर्मानुचरणके अनुरूप फल भोग लिया। इतनेसे ही आपकी अवतार-लीला सफल हो गयी। अब इसकी रक्षा कीजिये—

अत्युग्रकर्मा-चरणानुरूपं फलं त्वनेनेदमभोजि भोगिना।
एतावतैवाजनि तेऽवतारकृतार्थतेतः परमीश पाहि नः ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६८)

न्याय-विरुद्ध पथपर चलनेवाली प्रजा या सन्तानको यदि राजा शिक्षा—दण्ड न दे तो हे यदुवंशशिरोमणे ! वह अपने अनुयायीके रूपमें कैसे रहें ? अतः प्रभो ! आपने शासन करके समुचित ही किया है; क्योंकि हम भुवनवासी हैं और आप त्रिभुवनके एकमात्र स्वामी हैं—

नृपो यदि न शिक्षयेदनयवर्त्मभाजः प्रजा-
स्तदा निजपदानुगा यदुपते भवेयुः कथम्।
अतः समुचितं प्रभो व्यरचि शासनं यद्वयं
सदा भुवनवासिनस्त्रिभुवनैकनाथो भवान् ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.६९)

हे जगदीश ! केवल शिक्षा—दण्ड ही राजधर्म नहीं है, प्रजा-रंजन भी उसका कर्तव्य है। आपने नागपतिपर पहलेका प्रयोग किया है अब उसपर दूसरेका प्रयोग करना भी उचित है—

शिक्षैव धर्मो न नृपस्य केवलो धर्मः प्रजारञ्जनमप्यमुष्य हि।
तत्कर्तुरीश प्रथमं तवोरगाधीशे द्वितीयोऽप्युचितोऽस्ति सम्प्रति ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७०)

अनुग्रह इति (श्रीमद्भा० १०.१६.३४)

आप भले ही प्रभु इसे दण्ड समझें हम तो आपका महान् अनुग्रह ही समझते हैं। आपके चरणकमलोंकी रज लक्ष्मीके लिए भी दुर्लभ है वह इसे प्राप्त हो गयी—

त्वद्बुद्ध्याऽयं दण्डोऽप्यस्मद्बुद्ध्या त्वनुग्रहो भूयान्।
अपि दुर्लभं श्रियस्तल्लब्धमनेन त्वदङ्घ्रिकञ्जरजः ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७१)

नाग-पत्नियोंने अपनी स्तुति जारी रखते हुए कहा—प्रभु केवल अनुग्रहकी अपेक्षा निग्रह-पूर्वक अनुग्रह श्रेष्ठ होता है। क्योंकि निग्रहसे निःशेष मदका निवारण हो जाता है फिर अनुग्रहसे वर-प्रसादकी प्राप्ति होती है—

अनुग्रहात् केवलतो गरीयाननुग्रहो निग्रहपूर्वको यः।
मदोऽखिलोऽपि प्रथमादपैति वरप्रसादं च परस्तनोति॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७२)

तप इति (श्रीमद्भा० १०.१६.३५)

यद्यपि यह नाग इस जन्ममें क्रूरकर्मा है तथापि इसके प्राक्तन भाग्यकी प्रशंसा करनी पड़ेगी; क्योंकि नाथ! अशेष जीवोंके परमाश्रय आपने स्वेच्छासे इसको अपने नृत्यका रंगमंच बना लिया—

यद्यप्यस्मिञ्जन्मनि क्रूरकर्मा निर्वर्ण्यं तु प्राक्तनं भागमस्य।
यस्मादीशाशेषजीवाश्रयेण कामं चक्रे यस्त्वया रङ्गभूमिः॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७३)

कस्येति (श्रीमद्भा० १०.१६.३६)

पद्मापति, त्रिभुवनपति, नाथ! हम लोगोंने पूर्व-जन्ममें क्या पुण्य किया है जिसका यह फल है यह समझमें नहीं आता। ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवता बुद्धिसे भी जिसका अधिगम नहीं प्राप्त कर सकते आपके उसी प्राकृत शरीरसे रहित साकार रूपको हम इस समय अपने नेत्रोंसे देख रही हैं, आश्चर्य है—

किमस्माभिः पूर्वं सुकृतमिह वा जन्मनि कृतं
न विद्मः पद्मेश त्रिभुवनपते यत्फलमिदम्।
प्रपश्यामः सम्प्रत्यतनुतनुरूपं तव सुरै-
रजेशाद्यैर्बुद्ध्याऽप्यनधिगतमद्यापि यदहो॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७४)

विभो! स्वयं तुम पुन्नाग पुरुषोत्तम हो। कारणवारिमें शेषनागपर शयन करते हो। नागानन, गजानन और उनके पिता शङ्करजीके द्वारा आपका ध्यान किया जाता है। नागपति गजेन्द्रने आपकी स्तुति की है। आपका हृदय सर्वदा नागोंके प्रति दयाशाली रहा है। हम भी नागजातिके ही हैं, इसलिए हमें आपसे कोई भय नहीं है, यह निश्चय है—

स्वतस्त्वं पुन्नागो भवसि भुवने नागशयन-
स्तथाध्येयो नागाननगुरुमुखैर्नागपनुतः।
अतस्त्वत्तो नागानवरत-दयाशालिहृदया-
न्ननस्तज्जातीनां भयमिति विभो निश्चितमिदम् ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७५)

सनातन प्रभुको नमस्कार ! सुधाब्धिवासी प्रभुको नमस्कार ! रमाविलासी प्रभुको नमस्कार ! अवतारशाली प्रभुको नमस्कार ! व्रजार्तिहारी प्रभुको नमस्कार ! सन्त-अभीष्टकारी प्रभुको नमस्कार ! कृपा-प्रसारी प्रभुको नमस्कार ! स्वभक्तधारी प्रभुको नमस्कार—

नमः सनातनाय ते नमः सुधाब्धिवासिने
नमो रमाविलासिनं नमोऽवतारशालिने।
नमो व्रजार्तिहारिणे नमः सदिष्टकारिणे
नमः कृपाप्रसारिणे स्वदासधारिणे नमः ॥
(श्रीभक्तिरसायनम् १६.७६)

रोष एक दुर्धर्ष विष है। इसका एक ही लोकोत्तर भेषज है कि नति एवं नूति (स्तुति) प्रधान वचनका प्रयोग किया जाये। नागपत्नियाँ यद्यपि श्रेष्ठ धर्मके आचारके अधिकारसे रहित हैं तथापि यह बात समझती हैं। अतः प्रभुके प्रति बहुविध नति एवं प्रणतिके वचन बोलती हैं—

दुर्धर्ष - रोष - विष - भेषज - मेकमेव
लोकोत्तरं नतिनुतिप्रचुरं वचो यत्।
जानन्त्य इत्थमबलाः स्वधिकारहीना-
श्चक्रुर्नतीर्बहुविधाः प्रणुतीस्तथेशे ॥
(श्रीभक्तिरसायन १६.७७)
(सावशेष)

नैन दोउ जहर बुझी तरवार।
धार करत हिय लहर चढ़त है ऐसी गजबकी धार ॥
विह्वल ह्वै डोलत गलियनमें तनको न रहत सम्हार।
मोहनिअली करै बस अपने अवध छयल दिलदार ॥

●

विनयपत्रिकामें भक्तिमूला प्रपत्ति

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

रीडर : कलकत्ता विश्वविद्यालय

(पूर्वानुवृत्त)

जीव क्या सहज ही शरण लेता है? अपने कर्तृत्वका अभिमान क्या अनायास ही छूटता है ? जब अपना जोर नहीं चलता, जब गजेन्द्रकी तरह पानी सिरसे ऊपर जाने लगता है तभी कोई विरला महाभाग अपनी उस सारी छटपटाहट-भरी आर्तिको भी भगवान्‌को निवेदितकर शरण लेनेके लिए उद्यत होता है। अधिकांश तो तब भी नहीं चेतते और अपने हाथ पाँव पटकते-पटकते संसार-सागरमें डूब ही जाते हैं। तुलसीने अपनी शरण पूर्व विकलताको बहुत ही मार्मिक शब्दोंमें व्यक्त किया है। संसारकी विषम स्थिति और अपनी आश्रय-हीनताको देखकर व्याकुल हो वे कह उठे हैं :

अति अनीति कुरीति भइ भुंइ तरनि हूँ तें ताति।
जाउँ कहँ, बलि जाउँ कहूँ न ठाउँ मति अकुलाति ॥[1]

प्रभुको छोड़कर मेरे लिए कहीं ठौर नहीं है, यह बोध अपने कटु अनुभवोंसे ही उन्हें हुआ था, दीन-हीनको और कोई नहीं अपनाता यह वे अच्छी तरह समझ चुके थे, 'कहाँ जाऊँ कासों कहौं, को सुने दीन की। त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की'।[2] जबसे जीव नाम धारण किया तबसे रात-दिन नाचते-नाचते परेशान हो जानेके बाद निस्संबल और परिश्रान्त हो जानेके बाद तुलसी ने प्रभुसे यह कातर प्रार्थना की थी :

थके नयन, पद, पानि, सुमति-बल, संग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन भव-भय-बिकल डर्‌यो ॥

---

१. विनयपत्रिका २२१.५-६।

२. वही १७९.१-२।

जेहि गुनते बस होहु रीझिकरि सो मोहिं सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो ॥[1]

सिर्फ अपनी व्याकुलताका ही नहीं, अपने अपराधोंका भी निवेदन तुलसीने किया है, क्योंकि निश्छल भावसे अपने दोषोंको स्वीकारते हुए प्रभुकी शरणमें आना चाहिए 'परिहरि छल सरन गये तुलसिहुँसे तरत।[2] तुलसीदासका जो बात सबसे अधिक कष्ट देती रही, वह यही थी कि दुनिया तो उन्हें साधु, भक्त समझती है जबकि उनके हृदयमें अब भी काम, क्रोध लोभ, मोह, मद, मत्सरका ही वास है, अपनी कथनी और करनीके इस अन्तरसे 'रहनि आन विधि कहिय आन'से पीड़ित होकर उन्होंने ईमानदारीसे अपनी स्थितिको प्रभुके सामने रख दिया है। उनकी कुछ संस्वीकृतियाँ हैं: 'काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि, बहुत प्रीति पुजाइवे पर पूजिवे पर, थोरि, देत सिख, सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि।'[3] 'विरंचि हरि भगतिको वेष बर टाटिका, कपट दल हरित पल्लवनि छावौं, नाम लगि लाइ, लासा ललित बचन कहि ब्याध ज्यों विषय-बिहँगनि बझावौं, कुटिल सतकोटि मेरे रोमपर बारियहि, साधुगनतीमें पहिलेहि गनावौं, परम बर्बर, खर्व, गर्व-पर्वत चढ़चो अज्ञ सर्वज्ञ जन मनि जनावौं'[4] 'कोउ भल कहहु, देउ कछु कोऊ असि बासना न उरतें जाई'[5] आदि आदि। यह ठीक है कि अपराध-स्वीकृतिकी उक्तियोंमें वैयक्तिकता के साथ-साथ सामान्य जीवमात्रका प्रतिनिधित्व भी है अतः इनको बिलकुल अभिधार्थमें लेना और तुलसीदासका कामी, क्रोधी, लोभी, मान लेना उचित न होगा किन्तु यह भी ठीक है कि श्रीरामके समक्ष अपनेको रखकर भक्तके अपने कल्पित आदर्शकी तुलनामें अपने मनके विकारोंको देखनेके कारण तुलसी अपनी अपूर्णताओंके कारण अत्यधिक दैन्यका अनुभव करते थे और इसीलिए पूरी निष्ठाके साथ कहते थे, 'माधव, मो समान जग माहीं, सब विधि हीन, मलीन, दीन अति लीन-विषय कोउ नाहीं।[6] न तो यह छलछद्म-भरी उक्ति है, न दीनताके प्रदर्शनका कोरा परिपाटी-पालन ही है। यह उस निष्ठावान् भक्तका

१. वही ९१.७-१०।
२. वही १३४.१४।
३. वही १५८.२-४।
४. वही २०८.३-६।
५. वही ११९.४।
६. वही ११४.१-२।

वात्सल्य है जो जगत्‌के अन्य जीवोंको क्षमासुन्दर नेत्रोंसे देखकर अपनेसे श्रेष्ठ और अपने अन्तर्‌को सत्यानुसन्धानी दृष्टिसे देखकर अपने शुभ प्रयासोंके बावजूद उसे 'मोहजनित मल'से ग्रस्त पाकर अपनेको सबसे निकृष्ट घोषित करता है। जो हो, सच्चाईके साथ अपने दोषोंकी निवृत्ति प्रभुके समक्ष कर देनेपर कुछ-कुछ आश्वस्त हो पाते हैं, 'सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो, तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो'[1] और प्रभुसे यह आग्रह कर पाते हैं कि 'तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछु नहिं गोयो।'[2]

प्रभुकी अनुकूलताका संकल्प, और प्रतिकूलताका वर्जन (जो वस्तुतः एक ही सिक्केकी दो पीठें हैं) शरणागतिकी भूमिका मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि यह भूमिका उपयोगी है किन्तु सब समय अनिवार्य है, ऐसा नहीं लगता। गजेन्द्र, जयन्त, कालियनाग आदि शरणमें आनेके पहले न भक्त थे, न उन्हें अनुकूलताका संकल्प और प्रतिकूलताका वर्जन करनेका समय ही मिला था, फिर भी प्रभुने उनको शरणमें लिया ही था। जो हो, तुलसीकी विनय-पत्रिकामें इन दोनों तत्त्वोंका भी पर्याप्त समादर है।

प्रभुकी अनुकूलताके संकल्पका अर्थ है अपनी समस्त इन्द्रियोंको, सभी वृत्तियोंको राममय कर देनेका संकल्प करना। तुलसीदास अपने मनको इसका उपदेश देते हुए कहते हैं, 'स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीतावरु।'[3] इसी पदमें उन्होंने 'सम, संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ये चारि दृढ़ करि धरु' भी कहा गया है ताकि मनोवृत्तियाँ, पवित्र रहें। इसी तरह प्रतिकूलताका वर्जन करते हुए वे इन्द्रियोंको रामविमुख होनेसे रोकना चाहते हैं, 'स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईसही नैहौं।'[4] इसी क्रममें वे समस्त रामविमुखोंको (चाहे वे अत्यन्त प्रिय ही क्यों न रहे हों) त्यागनेका ही सन्देश देते हैं, 'जाके प्रिय न राम बैदेही। सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'[5] किन्तु समग्र विनय-पत्रिकाके अनुशीलनसे मुझे ऐसा लगता है इन दोनों तत्त्वोंका निर्वाह भी वे अपने बलबूते-

१. वही १८२.११-१४।
२. वही २४५.७।
३. वही २०५.५-६।
४. वही १०४.५-६।
५. वही १७४.१-२।

पर कर पानेकी स्थितिमें अपनेको नहीं पाते क्योंकि उन्हें लगता है कि रात-दिन अपने मनको अनेक प्रकारकी अच्छी-अच्छी शिक्षाएँ देते रहनेपर भी प्रभुकी अनुकूलताको ग्रहण करने और प्रतिकूलताको छोड़नेकी बातें समझाते रहनेपर भी वह मूढ़ अपना स्वभाव नहीं त्यागता। हारकर वे यही कहते हैं कि यह मन 'बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।'[1]

प्रभु रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हैं और अपने करुणाप्रेरित स्वभावके कारण दीन-हीन शरणागतोंकी रक्षा अवश्य करेंगे, इसपर तुलसीका अडिग विश्वास है। उनकी सहज घोषणा है, 'जो पै कृपा रघुपति कृपालुकी बैर और के कहा सरे। होइ न बाँको बार भगतको जो कोउ कोटि उपाय करे।[2] उनका दावा है कि मोद और मंगलसे रिक्त हो गयी पृथिवीको अपनी करुणासे सींच-कर आनन्दित करनेवाले और कलिके अनुगत दुर्जनोंको नष्टकर सुकृतसेनको जितानेवाले प्रभु केवल तुलसीकी ही नहीं, समस्त पीड़ितोंकी रक्षा करते हैं। शरणागति जैसी वैयक्तिक साधनामें भी तुलसी-जैसे सन्त लोककल्याण-की चेतनाको छोड़ नहीं सकते। इसीलिए वे कहते हैं कि प्रभु उखड़ोंको जमानेवाले, उजड़ोंको बसानेवाले, गयी हुई चीजोंको लौटानेवाले, आर्त्तोंकी आर्त्ति दूर कर उन्हें अभय देनेवाले हैं :

> उथपे-थपन, उजार-बसावन, गई-बहोर बिरद सदई हैं।
> तुलसी प्रभु आरति-आरतहर, अभय-बाँह केहि-केहि न दई है ॥[3]

शरणागतिका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है प्रभुको अपने एकमात्र गोप्ता ... रक्षकके रूपमें वरना! विनयपत्रिकामें यह भावना सबसे अधिक प्रति-फलित हुई है। तुलसीने बराबर यह कहा है कि 'मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाउँ, निलज, नीच, निरधन, निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ।[4] मनसा, वाचा, कर्मणा एकमात्र प्रभुकी शरण ग्रहण करते हुए तुलसी कहते हैं 'नाहिनै नाथ अवलम्ब मोहिं आनकी, करम, मन, बचन पन सत्य करुनानिधे! एक गति राम भवदीय पदत्रानकी।'[5] यह भी उल्लेख्य है कि तुलसीने नाम और नामीको अभिन्न माना है, बल्कि भक्तिके आवेगमें यहाँ तक कह दिया

१. वही ८९.८।
२. वही १३७.१-२।
३. वही १३९.२३-२४।
४. वही १५३.१-२।
५. वही २०९.१-२।

है कि 'प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो। ताको भलो कठिन कलिकालकहुँ आदि, मध्य परिनामो।'[1] रामका नाम तुलसीको रामसे भी अधिक प्रिय है क्योंकि वह सर्वदा उन्हें सुलभ है और उनकी 'प्रीति, प्रतीति'के अनुसार रामके सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंसे बड़ा है। अतः वे यह अकुंठचितसे कहते हैं 'रामजपु, रामजपु रामजपु, बावरे, घोर भवनीर-निधि नाम निज नाव रे।'[2] नामका यह अवलम्ब वस्तुतः नामीका ही अवलम्ब है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

प्रभुको अपना रक्षक, अपना एकमात्र सम्बल स्वीकारकर तुलसी अपना सब कुछ प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देते हैं। 'नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह बहैहौं, यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'[3] सारा उत्तरदायित्व उसीका है जो स्वामी है, सेवकने ता उनसे नाता जोड़ कर और सबोंसे नाता तोड़ लिया, सब कुछ उन्हें सौंप दिया। अब मैं जैसा हूँ अच्छा हूँ तो, बुरा हूँ तो आपका हूँ 'जैसो हौं तैसो हौं राम! रावरो जन जनि परिहरिए।'[4] 'रावरो जन'में 'तवास्मीति'की स्पष्ट ध्वनि है! एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहनेवालेको अभय देनेकी अपनी प्रतिज्ञाका पालन प्रभु करेंगे ही तुलसीको इसका पूरा विश्वास है।

तुलसी अपनेको आरम्भसे ही दीन-हीन मानते रहे अतः आत्मसमर्पणके अभिमानका तो प्रश्न ही नहीं उठता। कार्पण्य दैन्य तुलसीकी साधनाके मूल तत्त्वोंमें है। अपनी साधनहीनतासे उत्पन्न दीनताके कारण ही तुलसीने शरणकी प्रार्थना की थी और शरण-ग्रहणके बाद भी उन्होंने अपनी दीनता नहीं त्यागी। शरणागतिके अनन्तर भी उनकी अपने बारेमें मान्यता यही थी कि :

मंदमति, कुटिल, खल-तिलक तुलसी सरिस भो न तिहुँलोक तिहुँ काल कोऊ।
नामकी कानि पहचानि जन आपनों ग्रसत कलिब्याल राख्यो सरन सोऊ[5] ॥

वे इस बातको सोच भी नहीं सकते कि प्रभुने उन्हें उनके आत्म-समर्पण या भक्तिभावके कारण अपनाया है, उनकी दृढ़ धारणा यही है कि मेरे जैसे

---

१. वही २२८.१-२।
२. वही ६६.१-२।
३. वही १०४.७-८।
४. वही।
५. वही १०६.११.१२।

स्वामीद्रोहीको प्रभुने सिर्फ अपनी सेवक-हितैषिताके कारण अपना लिया, प्रभु ने अपनी भलाईके चलते ही मेरा भला कर दिया है :

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साँई द्रोही, पै सेवक-हितु साँई[1] ॥

कहनेका तात्पर्य यह कि तुलसीदासने दैन्यको अपने स्वभावका सहज अंग बनाकर अहंकारको निर्मूल कर दिया था।

तुलसीदास अपनी ओरसे शरण लेकर ही पूर्ण आश्वस्त नहीं हो पाते। अपने मनमें उठती रहनेवाली दुर्वासनाओंके कारण उन्हें लगता है कि 'मैं जानी हरिपदरति नाहीं, सपनेहुँ नहिं बिराग मन माहीं।[2] उनका सीधा तर्क यह है कि राम चरणमें अनुरक्त जन समस्त भोगोंको रोग समझकर त्याग देते हैं किन्तु मुझे तो काम भुजंगने डँस रखा है तभी तो विषय रूपी नीम मुझे कड़वी नहीं लगती। इससे उनके मनमें असमंजस और शोक बढ़ता ही जाता है। इसी मनःस्थितिमें वे सोचते हैं कि प्रभुने यदि उन्हें अपना लिया होता तो उनके मनमें विषय-वासना कैसे जाग सकती थी। वे प्रभुसे कहते हैं, 'तुम अपनाओ तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सौं नेह छाँड़ि छल करिहै[3] किन्तु जब ऐसा नहीं होता, जब उनका मन त्रिविध ज्वरसे जलता हुआ बौराया फिरता है तो वे हाँक लगाते हैं, 'सुनहु राम रघुबीर गुसायौं, मन अनीति-रत मेरो। चरन-सरोज बिसारि तिहारे निसिदिन फिरत अनेरो।[4] वे आशंकाग्रस्त हो उठते हैं, कहीं प्रभुने उनका परित्याग तो नहीं कर दिया। पीड़ा भरे स्वरमें उन्होंने कहा है, 'तुलसी प्रभुको परिहर्‍यो सरनागत सो हौं।[5] किन्तु उनकी श्रद्धा अडिग है, भले राम उन्हें छोड़ दें, वे रामको नहीं छोड़ सकते, 'जो तुम त्यागो राम हौं तो नहिं त्यागों। परिहरि पाँय काहि अनुरागों।[6] भला रामके चरणोंको छोड़कर वे और किसकी भक्ति कर सकते हैं। नहीं, वे रामका आश्रय कदापि नहीं त्यागेंगे किन्तु केवल अपनी ओरसे ही शरण लेकर चुप नहीं बैठेंगे। श्रीरामको भी उन्हें अपनाना

१. वही ७२.१-२।
२. वही १२७.१-२।
३. वही २६८.१-२।
४. वही १४३.१-२।
५. वही १५०.१२।
६. वही १७७.१-२।

होगा···पर वे अपनी ओरसे प्रार्थना करनेके सिवाय और कर ही क्या सकते हैं। ठीक है, वे तबतक विनय करते ही रहेंगे जबतक प्रभु उन्हें नहीं अपना लेते।

शास्त्रीय शब्दावलीमें कहा जाय तो तुलसी 'स्वगत–स्वीकार-प्रपत्ति'को यथेष्ट न समझकर 'परगत-स्वीकार-प्रपत्ति' पर अर्थात् श्री राम द्वारा अपना लिये जानेपर बल दे रहे हैं। अपनी ओरसे रामका होना और रामके द्वारा अपनाया जाना इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। लोकदृष्टिमें कोई भले ही पापी या नीच हो किन्तु यदि उसे प्रभुने अपना लिया तो वह सर्वगुणसम्पन्नसे भी बढ़कर है। 'जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो, सोइ सुसील पुनीत वेदविद बिद्या गुननि भर्‌यो'[1] 'सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि राम तुम रीझे'[2] आदि उद्गारोंसे स्पष्ट है कि तुलसीकी दृष्टिमें रामके द्वारा अंगीकृत होना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। प्रभु अपनी ओर, अपनी बिरुदावलीकी ओर, तुलसीकी दीनताकी ओर देखकर ही तुलसीको अंगीकार करें, यही विनती उन्होंने बार-बार की है। 'तूँ गरीबकी निवाज हौं गरीब तेरी। बारक कहिये कृपालु तुलसीदास मेरो।'[3] 'कहैहो बनैगी कै कहाए बलि जाउँ राम! तुलसी तू मेरी हारि हिये न हहरु'[4] 'खीझि रीझि बिहँसि, अनख क्यों हूँ एक बार तुलसी तू मेरी बलि, कहियत किन'[5] जैसी अनेकानेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, जिनमें तुलसीने यह चाहा है कि कृपापूर्वक राम उन्हें आश्वस्त करते हुए यह कहें कि 'तू मत डर, मैंने तुझे अपना लिया है।'

जैसे-जैसे इस आश्वासनकी प्राप्तिमें देर होती है, वैसे-वैसे तुलसीकी आर्ति बढ़ती जाती है। एक तो प्रभुके दर्शनोंकी उनकी प्यास इतनी बढ़ जाती है कि वे छटपटा कर कह उठते हैं 'कृपासिन्धु सुजान रघुवर प्रनत-आरति-हरन, दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन।'[6] दूसरे उन्हें अपनी बढ़ती हुई उम्रके कारण मृत्युकी निकटताका बोध होता है अतः वे कातर स्वरमें प्रभुसे निवेदन करते हैं, न सही, कृपासे न सही, जिस किसी भावसे आप देखना चाहें, उसी

१. वही २३९.१-२।
२. वही २४०.१।
३. वही ७८.११-१२।
४ वही २५०.१८।
५. वही २५३.५।
६. वही २१८.९-१०।

भावसे देखकर अब शीघ्र ही मुझे अपना लें, 'जो चितवनि सौंधो लगे चितइए सवेरे, तुलसिदास अपनाइए कीजे न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।'[1] तीसरे उन्हें यह भी लगता है कि चित्रकूटमें प्रभुकी कृपासे कलिकी कुचालका रहस्य उन्हें ज्ञात हो गया है अतः अब कलिकाल उन्हें पीस डालनेमें कोई कोर-कसर नहीं उठा रखेगा। कालसे आतंकित होकर अपनी रक्षाके लिए तुलसी रामके द्वारपर इस निर्णयके साथ धरना देकर बैठ गये हैं कि जबतक प्रभु उन्हें नहीं अपनाते तबतक वे उठेंगे ही नहीं :

प्रन करि हौं हठि आजु तें द्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभुकी सौं करि निबर्‌यो हौं।[2]

प्रभु केवल मेरे आग्रहपर मुझे अपना लेंगे, तुलसीको इसका भरोसा नहीं होता। अतः वे महाराज श्रीरामचन्द्रके दरबारमें अपनी अर्जी भेजते समय उनके परिकरोंसे भी प्रार्थना करते हैं कि वे सब निज निज अवसर' पर मलीन तुलसीकी सुधि कर उसकी बिगड़ी बात सुधारनेकी कृपा करें। अपनी 'विनयपत्रिका'की स्वीकृतिके लिए लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदिकी 'संस्तुति'का जो रूपक तुलसीने बांधा है, उसमें एक बड़ा शास्त्रीय सत्य निहित है। भागवतोंकी मान्यता है कि प्रपत्तिमें 'पुरुषकारत्व'की आवश्यकता है। सामान्यतः पुरुषकारका अर्थ है मानव प्रयत्न, पराक्रम, उद्यम आदि किन्तु प्रपत्तिमें अपना उद्यम काम नहीं आता। प्रपत्तिकी स्वीकृति तो प्रभु-कृपापर निर्भर है। प्रभुकी कृपा कब, किस पर, कैसे होगी इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्रपन्नोंका विश्वास है कि भगवत्कृपाके उद्रेकमें सन्त, आचार्य, भगवत्परिकर और सर्वोपरि भगवती सीता समर्थ है। अतः प्रपत्तिमें उन्हें ही 'पुरुषकार' माना जाता है। भगवती तो 'पुरुषकार-स्वरूपा' ही कही जाती हैं। विनयपत्रिकाके आरम्भमें श्रीरामके अंगभूत देव, देवियों तथा तीनों माइयोंकी वन्दना करनेके पश्चात् भगवती सीतासे दो पदोंमें तुलसी दासने अनुकूल अवसरपर श्रीरामको अपनी सुधि दिलानेकी प्रार्थना की है।[3] विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें 'मारुति मन रुचि भरतकी लखि लखन कही है' के द्वारा लक्ष्मणजी (जो भक्तोंके द्वारा जीवोंके आचार्य माने जाते हैं) के

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

---

१. वही २७३.५-६।
२. वही २६७.१-२।
३. वही पद सं० ४१, ४२।

सार्थ तुकाराम-गाथा

श्री दत्तात्रेय दूहानुकरके सौजन्यसे

(अभंग क्रमांक १९८ मराठी अभंग)

भोजनाच्या काली । कान्हो मांडियेलीं आली ॥
काला करी वनमालीं । अन्न एकवटा ॥
देई निवडुनी । माते म्हणतो जननी ॥
हात पिटूनि मेदिनी । वरि अंग घाली ॥ १ ॥

एक दिन भोजनके समय कन्हैयाने एक अजीब हठ पकड़ लिया ! थालमें परोसी सारी चीजें एक साथमें मिला डालीं और माँसे कहने लगे कि अभी इन्हें चुनकर अलग कर दे । हाथ पीटने लगे और जमीनपर लोटने लगे ।

कैसा आली घेसी । नव्हें तेंचि करविसी ॥
घेई दुसरें तयेसी । वारी म्हणे नको ॥ २ ॥

माँने समझाया—'देख, असम्भवको सम्भव बनानेका हठ क्यों पकड़ रहा है ? चाहे तो दूसरी (नयी) थाल ले ले ।' लेकिन श्रीकृष्णने माँको दूसरी थाल लानेसे मना कर दिया ।

आता काय करूं । नये यासि हाणू मारूं ॥
नव्हे बुझाविता स्थिरू । काही करिना हा ॥
त्वांचि केले एके ठायी । आता निवडुनि खाई ॥
आम्हां जाचितोसि काई । हरिसि म्हणे माता ॥ ३ ॥

(पृष्ठ ५० का शेषांश)

एवं अन्य भाइयों तथा सभासदोंके पुरुषकारत्वका ही स्पष्ट उल्लेख है किन्तु 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है 'सुधि' मैं हूँ लही है'[१] के द्वारा तुलसीदासने संकेत कर दिया है कि भगवती सीताका पुरुषकारत्व उन्हें सुलभ था । सबके समर्थनको देखकर श्रीराम तुलसीकी विनयपत्रिकापर सही कर तुलसीको अपना लेते हैं । परगतस्वीकार-प्रपत्तिका लक्ष्य सिद्ध होनेके साथ ही विनयपत्रिका पूर्ण हो जाती है । ●

१. वही २७९.५ ।

मैया सोचने लगी—'अब क्या किया जाय ? राम-पीट भी नहीं सकती। समझाने-बुझानेपर भी यह चुप नहीं होता।

इतनेमें मांको एक युक्ति सूझ पड़ी और वह कन्हैयासे कहने लगी, देख तूने ही तो इन चीजोंको मिलाकर एक कर डाला है। अब तू ही इन्हें अलग करके खा ले। व्यर्थमें हमें क्यों सता रहा है ?

त्याचे तयाकुन । करवितां तुटे भान ॥
तव जाले समाधान । उठोनिया बैसे ॥
भाते बरे जाणविले । अंग चोरुनि आपुले ॥
तोंडियले एका बोले । कैसे सुख दुःख ॥ ४ ॥

मांके ये शब्द सुनकर श्रीकृष्ण मान गये, जमीनपरसे बठकर बैठ गये। मांकी कितनी अच्छी सूझ रही कि स्वयंको बचाकर केवल एक शब्दसे सुख-दुःखका झगड़ा मिटा डाला !

ताट पालवे झाकिले । होते तैसे तेथे केले ॥
भिन्नाभिन्न निवडिले । अन्ने वेगलाली ॥
विस्मित जननी । भाव देखोनिया मनीं ॥
म्हणे नाहो ऐसा कोणी । तुज सारिखा रे ॥ ५ ॥

कन्हैयाने अपने पीताम्बरसे थाल ढँक ली और भीतरकी खानेकी चीजें जैसी मिलानेसे पूर्व थीं वैसी ही अलग-अलग कर दी।

यह (लीला) देखकर मां चौंक उठी और कहने लगी तेरे जैसा संसारमें दूसरा कोई नहीं हो सकता।

हरूषली माये । सुख अंगी न समाये ॥
कवकुनि बाहे । देती आलिंगन ॥
आनंद भोजनीं । तेथे फिटलीसे धणी ॥
तुका म्हणे कोणी । सांडा शेष मज ॥ ६ ॥

मांको अत्यन्त हर्ष हुआ। वह सुख अपने शरीरमें समा न पानेके कारण उसने भुजाओंमें श्रीकृष्णको बांध लिया। अब श्रीकृष्ण भोजनके आनन्द-रसमें इतने डूब गये कि सर्वत्र तृप्ति ही तृप्ति छा गयी। सन्त तुकाराम महाराज कहते हैं कि इस आनन्द-भोजनके उच्छिष्ट-कण (जूठनकी एक दाना) मेरे लिये (भी) तो कोई गिरा दे।

●

मकेश्वर महादेव

कविराज श्रीनिवास शास्त्री

१६१/१ म० गांधी रोड, कलकत्ता

इस पवित्र भारतभूमिका महत्त्व सृष्टिके आरम्भ कालसे रहा है। वस्तुतः इसी पावनभूमिको सृष्टि के आद्य उद्गम होनेका सौभाग्य मिला है। अतएव इस वरिष्ठ भूमिको छः ऋतुएँ मिलीं, हिमोज्ज्वल विश्वोच्च मुकुट मिला, प्राकृतिक निधियोंसे पूर्ण भौतिक खजाने और आध्यात्मिक सूक्ष्म तत्त्वोंसे पूर्ण असंख्य विचारक मिले। विश्वके अन्यभागोंमें जो उस समय तक अन्धकारमें थे, ज्ञानालोक भारतकी दिशासे ही पहुँचा। हमारे त्यागी साधनैकनिष्ठ विद्वानोंने 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का अमर एवं शान्तिदायक सन्देश सुदूर राष्ट्रोंमें पहुँचाया एवं विश्वतापहारिणी भारतीय संस्कृतिको प्रेरणाको विश्वके प्रत्येक कोणमें स्थायी आवास दिया।

विश्वकी समस्त प्राचीन संस्कृतियाँ जो आज विविध रूपोंमें विविध-सी, पृथक्-सी प्रतीत हो रही हैं वस्तुतः उनका उद्गमस्थल एक ही था अर्थात् सभीने भारतीय संस्कृतिसे ही जीवन ग्रहण किया था। मुस्लिम धर्मको ही लें, जो आज एकदम अलग प्रतीत हो रहा है, उसने भी कभी आर्यपरम्पराओंसे ही अपना पोषण प्राप्त किया था एवं उसका साक्षी है वहाँके व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंके पीछेका इतिहास।

वर्तमान अवस्थानमें मक्का एक प्राचीन तीर्थस्थान है। इसके निर्माणकालके लिए इतिहासज्ञ मौन हैं, पर जनश्रुति है कि अब्राह्मने इसे खुदाके आदेशसे भगवान् शिवके आवासके लिए बनाया। मुसलमान और यहूदी अपना प्रधान और प्राचीन आराध्य देव अब्राह्मको मानते हैं। वस्तुतः यह ब्रह्म शब्दका ही विकृत रूप है। संयुक्त अक्षरके पूर्व उच्चारण-दुर्बलतावाले लोग अकार या इकारका प्रयोग करते हैं, जैसे—इसटेशन, इसकूल, असटुडेण्ट, अक्षमा, अस्पष्ट—वही यहाँ हुआ है। अतः यह स्थान ब्रह्म या ईश्वरनिर्मित है। वस्तुतः बहुत प्राचीन स्थानोंके लिए भारतमें तथा अन्य

राष्ट्रोंमें भी यही कहावत है; जिनका मूलतः निर्माण काल अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य-वंशधरने पश्चिममें यह तीर्थस्थान बनाया था एवं इसका नाम महीका रखा। मह्यां = पृथिव्यां कीयते = कीर्त्यते' सा नगरी महीका। जो पवित्रताके लिए विश्वमें प्रसिद्ध हो, जैसे द्वारिका, काशिका आदि। यही शब्द लोकके अज्ञानसे मका या मक्का हो गया। लोगोंके उच्चारण-दौर्बल्यने, अंग्रेजोंके अशुद्ध उच्चारणने और अंग्रेजी-लिपिके दोषपूर्ण लेखनने शब्दोंकी सत्य स्थिति-को प्रायः भ्रष्ट किया है। द्वारिकाको कोई द्वारका या द्वार्का कहे तो अज्ञान ही होगा।

परशु [राम] पुर पेशावर हो गया एवं मेघस्तनीशः मेगस्थनीज, शल्याक्ष शेल्यूकस हुआ। हिन्देशियाको राजधानी योग्यक्रतुः जोग्कर्ता हुआ। पाण्डव लोग इन्द्रप्रस्थके राजा थे। उनके गुरु द्रोणाचार्य एक पार्श्ववर्त्ती ग्राममें रहते थे, जो गुरुजीको दिया हुआ था, उसे गुरुग्राम कहते थे। मूर्खता और इतिहाससे अज्ञानने उसे गुड़गांव या गुड़गांवां कर दिया। किन्तु इन अज्ञानियोंके अत्याचारोंसे विकृत अवस्थाप्राप्त शब्दोंमें भी पर्याप्त जीवन है। यह सस्कृतभाषाकी विशेषता है कि उसके शब्द अपनेमें इतिहासकी अभिव्यक्ति छिपाये रहते हैं।

इस प्रकार यह महीका या मका पश्चिम भारतका तीर्थस्थान या संस्कृति-प्रचारकेन्द्र था, किन्तु याता-यातकी सुविधाकी अल्पताके कारण यह अपने उद्देश्यमें शिथिल हो चला था। महाराजा विक्रमादित्यने जब दिग्विजय की और प्राचीन मन्दिरकी शिथिल मर्यादाको देखा तो इस प्रान्तमें संस्कृतिका स्थायी प्रचार करनेके उद्देश्यसे विशिष्ट विद्वान् इस क्षेत्रमें भेजे तथा यज्ञादिका आरम्भ किया। महीका या मक्का मक्केश्वर महादेवके मन्दिरके समक्ष एक काव्यागार बन-वाया और प्रतिवर्ष प्रान्तके कवियों-का सम्मेलन करनेकी एवं योग्य कवियोंको पुरस्कृत करनेकी व्यवस्था की। इस प्रान्तके प्रसिद्ध घोड़े विश्वके सभी देशोंके काम आते थे और विक्रमादित्यके दिग्विजयमें इन घोड़ों-का भी विशिष्ट स्थान था अतः उन्होंने इस प्रान्तका नाम अर्वस्थान रखा। संस्कृतमें अर्व घोड़ेका नाम है। इसी अर्वस्थानका पर्याय हुआ तुरगस्थान जो तुर्ग तुर्क होते-होते कालान्तरमें टर्की या तुर्की कहा जाने लगा। विक्रमा-दित्यने शासनमें सुव्यवस्था की, न्याय-प्रणाली चलायी। शिक्षार्थ पाठशालाएँ विश्रामार्थ विश्रामशालाएँ खोलीं। लोगोंमें ज्ञानोदय हुआ। इसके लिए यह प्रमाण ध्यानसे पढ़ना चाहिए—

इस्ताम्बोल [तुर्की] के राज-कीय पुस्तकालयके अर्वी विभागमें १७४२ ई० का एक काव्यसंग्रह है,

जिसका नाम 'सायर अल उकोल' है। यह संग्रह अबू अमीर अब्दुल असमईका है, जो ईशलामी राजा खलीफा हारूँ रशीदका दरबारी कवि था। इस संग्रहमें मोहमदसे १६५ वर्ष पूर्वके जहूंम बिनतोई कविकी कविता है। यह कविता मक्कामें प्रतिवर्ष होनेवाले कवि-सम्मेलनमें पुरस्कृत होकर स्वर्ण-पत्रपर उट्टंकित लटकायी गयी थी। मक्कापर जब ईशलामी सेनाका आक्रमण हुआ तो मोहमदके दरबारी कवि हस्साम बिन साबिकने कुछ रचनाएँ हस्तगत कीं। इनकी तीसरी पीढ़ीके समकालमें हारूँ रसीद था। लाभकी आशासे उनके वंशज मदीनेसे बगदाद जाकर अबू अब्दुल्ल अमीर असमईसे मिला। यह स्वर्ण-पत्र देकर हजारोंका पारितोषिक प्राप्त किया। इस कवितामें विक्रमका प्रभाव-प्रताप, विद्याका प्रचार, न्याय-निष्ठा व धार्मिकताके साथ कहा है कि उसने हमारे देशमें पण्डितोंको भेजकर धर्म, संस्कृति और विद्याका प्रचार किया, जिसमें हम सत्पथगामी हुए। वास्तवमें अर्वदेशमें केवल घोड़ोंका व्यवसायी वर्ग था, जो पशुसान्निध्यसे पशुवत् हो गया था। विक्रमने नव-जीवनका प्रचार किया।

मकेश्वर या महीकेश्वर मन्दिरमें संन्यासी लोग रहते थे, जो रहनेवालोंको शास्त्रीय शिक्षा और आनेवाले श्रोताओंको प्रवचनात्मक शिक्षा देते थे। १० नवम्बर ५७० ई० में अब्दुल्लाकी स्त्री अमीनासे अबुल कासिम इब्न अब्दुल्लाका जन्म हुआ जो आज मोहम्मद नामसे प्रसिद्ध हैं। इनका घर सम्पन्न था पर जन्मसे पूर्व पिताका और दो वर्ष बाद माताकी मृत्युसे ये अनाथ होकर अपने वृद्ध पितामहके आश्रयमें पले। इनके ये दादा महेश्वरके पुरोहित थे। यह मन्दिर हाशम वंशका उपासना-गृह था। ये बाल्यकालमें मन्दिरमें चलनेवाले प्रवचनोंको बड़े ध्यान और चावसे सुनते जो प्रायः निवृत्ति-मार्गपरक और निराकार उपासना-विषयक होते थे। घरमें भेड़-बकरी चरानेका और युवा होनेपर अपने चाचाके साथ व्यापारोद्देश्यक यात्राओंका इनका काम रहा। यात्राके समय इनको मालूम हुआ कि दस्यु यात्रियोंको अत्यन्त कष्ट देते हैं, तदर्थ इन्होंने सैन्यगठन किया और यह कार्य इनको बहुत पसन्द आया तथा आगे चलकर लाभप्रद भी रहा। ये हीर शैलशृङ्गमें या गुफामें जाकर एकान्त साधना करते थे। शनैः-शनैः ये उपदेश देने लगे और ६१० ई० में इन्होंने अपनेको ईश्वरादेशका वक्ता घोषित कर दिया। शिखा-सूत्र रहित होकर बिना पञ्चकच्छका अधोवस्त्र धारण किया। इसे लुंगा कहते हैं। यह वस्त्र लिंग छिपानेके लिए लोकव्यवहारके लिए पहना गया था अतः 'लिंगी' था जो

अज्ञानवश लुंगी हो चला। लिंग ओट एक वस्त्रखण्डको लिंगोट या लिंगोटी न कहकर लंगोट या लंगोटी कहा जाता है। यह लिंग शब्दकी अश्लीलताको ध्यानमें रखकर भी बदला गया हो सकता है।

संन्यासियोंकी सङ्गति और प्रवचन-प्रभाव विलक्षणरूपेण प्रभावी रहा। वे इस क्षेत्रमें निराकारकी उपासनाके प्रसारकी इच्छासे प्रवचन करने लगे।

उस क्षेत्रमें उस समयकी प्रथाके अनुसार प्रत्येक ग्रामका शासक उस गाँवके देवताका पुजारी होता था जो शासन और उपदेश करता था। यह भावना भी भारतीय भावना ही थी। उदयपुरके राणा एकलिङ्गका राज्य और अपनेको इनका कामदार मानते थे। यही बात जयपुरवाले श्री गोविन्ददेवजीके लिए और नेपालनरेश पशुपतिनाथके लिए एवं काशीनरेश विश्वनाथके लिए कहते थे।

पर इस स्थानकी बात दूसरी थी। ग्रामशासक अपनी प्रजाको एतदर्थ सर्वदा सज्ज करता कि वे पार्श्ववर्ती ग्रामके निवासियोंको स्वदेवके प्रति आदरवान् करें और फलतः शासकाधीन।

इस प्रकार पूरे क्षेत्रमें प्रत्येक ग्रामवासीका अपने प्रतिवेशीसे संघर्ष चलता। व्यापारोन्नति, शिल्प-कौशल, विद्याप्रचार शान्तिमें होते हैं जो वहाँ न थे। वे लोग शराब पीते, स्त्रियोंको केवल भोग्य समझते और संघर्ष करते।

इस करुणामय वीरके हृदयमें करुणाका अजस्र स्रोत उमड़ा और उसने सोचा कि ये मोहाविष्ट मानव परम कष्ट पाकर भी परलोकमें कुछ नहीं पा सकेंगे। लोककल्याणकी पवित्र भावना लेकर वह अपने उपास्य निराकारकी उपासनापर बोलने लगा। सर्वप्रथम उन्होंने दो बातोंपर विशेष बल दिया कि (१) तुम अपने गाँवके इस कल्पित नगण्य देवताका मोह छोड़ो और (२) मद (शराब) को त्यागो। इनके त्यागसे ही तुम्हारी बुद्धि निर्मल होगी, तभी निराकार ईश्वरकी उपासनाके अधिकारी हो सकोगे।

जहाँ भी ये जाते तो इन्हींपर जोर देते, अतः लोग इन्हें मोहमदसाम [आमया सहितः सामः] कहने लगे। यह लोकपरम्परा है—जैसे करपात्रीजी, अब चाहे वे पत्तलपर ही भोजन करते हों पर नाम करपात्रीजी प्रसिद्ध हो गया—इसी नामसे लोग प्रायः जानते हैं। कालीकमलीवाला बाबा, खटखटा बाबा, चिमटा बाबा, चाय बाबा, रामनामी बाबा आदि आज सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। यह वीर लोककी बौद्धिक कालिमा मसी [काली स्याही] का हनन करते थे, अतः मसीहा [मसीं हन्ति सः] कहे जाते थे। भगवां = पीले वस्त्र होनेसे इन्हें पीताम्बर कहते थे जो बादमें पैगम्बर हो गया।

यह नियम है कि जब कोई फैले हुए महादोषको दूर करनेके उद्देश्यसे बोलता है तो उग्र आदेशमय भाषामें बोलनेको बाध्य होता है। ऐसी ही स्थिति यहाँ थी। अत: इन्होंने कहना आरम्भ किया कि सब मूर्त्तियोंको तोड़ दो और इन मूर्त्तिपूजकोंको अपने सिद्धान्तमें ले आओ या मार दो। यही भावना मूलमें आज भी इनमें विद्यमान है। एक बार साधारण जनताके हृदयमें उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता या अन्य अनुचित कार्यका अभ्यास भर दिया जाय तो वह सरलतासे छूटनेवाला नहीं।

कई राष्ट्रोंने स्वशासन-प्राप्तिहेतु प्रचलित परकीय शासनके विरुद्ध नेताओंकी प्रेरणासे तोड़-फोड़ की, वह अब नेताओंके लाख प्रयत्नके बाद भी नहीं रुक रही है और प्रतिवर्ष राष्ट्रकी अरबों रुपयोंकी हानि होती है।

इस सम्प्रदायके लोगोंने अपनेको ईशलामी [ईशं लभते तच्छोलः] कहा, भ के ऊपरका छेद भ्रमवश मिल जानेसे 'भ' 'म' कहा जाने लगा।

इन्होंने उपदेशागार बनवाये जो मायाच्छिद कहे जाते थे। सांसारिक मोह-मद-मायाको छोड़कर निराकारकी साधनाके लिए बने, इन स्थानोंके प्रबन्धकोंको 'काची' कहा जाता था। प्रबन्धक = अच्छी तरह बांधनेवाला, जो अधीनस्थ जनोंको बांधकर रखे। कच-बन्धने धातुसे बने इस 'काची' [जी] शब्दका अर्थ भी वही है।

कोई जब नया सम्प्रदाय चलाता है तो प्रचलित शब्दोंकी जगह उसी अर्थके दूसरे शब्दोंको ही व्यवहृत करता है ताकि अपना सम्प्रदाय सर्वथा अलग दिखायी दे। जैनधर्म जब चला तो सनातनी लोग श्रोता शब्दका व्यवहार करते थे, यह सर्वत्र प्रचलित शब्द था, 'णुल्तृचौ' सूत्रसे एक ही अर्थमें श्रोता और श्रावक दो शब्द बनते हैं, श्रोता सनातन सम्प्रदायमें प्रचलित था अतः उन्होंने श्रावक शब्द ही प्रयुक्त किया। यों सैकड़ों शब्द उन्होंने नये लिये। यही स्थिति यहाँ थी।

स्त्रियोंके आकर्षणके दूरीकरणार्थं अखण्ड ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया। [यद्यपि बादमें मोहमदसाभने बारह विवाह किये] कुछ लोगोंने अपूर्वनिष्ठा सिद्ध करनेके लिए अपनी जननेन्द्रियाँ कटवा लीं और इसे संस्कारका रूप दिया, जो शून्य[न्न]ता कहा जाता था, जो अब जननेन्द्रिय-चर्माग्रभाग काटनेका नाममात्रका संस्कार शेष रह गया है।

यज्ञोपवीतके समय ब्रह्मचारी काशी जाता है पर वहाँ २-४ पग चलनेको ही काशी समझकर संस्कारकी पूर्त्ति कर ली जाती है। इसी प्रकार सब वर्गोंमें मोहवश संस्कारोंमें दौर्बल्य हुआ है।

देवपूजा-प्रवृत्ति लोकमें प्रचलित थी। उस स्थानपर कोई वस्तु देना आवश्यक था 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अतः मोहमद-सामने उसके स्थानपर पाँच बार ईश्वरके आह्वा[वा]नकी पद्धति डाली।

(१) प्रातः ब्राह्ममुहूर्त (२) सूर्योदयसे पूर्व (३) मध्याह्न (४) सूर्यास्तसे पूर्व (५) सूर्यास्तके बाद।

जानुभ्यामवनिं गत्वा नम्योऽजः पञ्चषः सदा इस आदेशमें जो 'नम्योजः' है वह नमाज कहा जाने लगा। अथवा–नाम्ना उच्चार्यमाणेन यजनं नामयाजः।

ईश्वरका नाम उच्चारणकर यजन करना। यह याज शब्द पाणिनिके पूर्वकालसे इसी रूपमें प्रचलित था जो पाणिनिके बाद याग हो गया। इससे नामयाजकी अत्यन्त प्राचीनता परिलक्षित होती है। यह नामयाज या नमाज नामकी उपासना-पंना शुद्ध हिन्दू-संस्कृति है।

मक्केश्वर-मन्दिरके निकट पाताल-गङ्गा है। वस्तुतः इस समूचे क्षेत्रमें जलका नितरां अभाव है। इस पातालगङ्गाके सान्निध्यके कारण ही यह तीर्थ बना होगा। इसको जमजम कहते हैं जो यमजमूका अपभ्रंश है। अर्वीमें इसे 'आवे हयात' कहते हैं! जिसे आजकल कूपाकार कर दिया है। महीका या मक्का हेजाज [अजजात] वंशकी राजधानी थी, जबसे इसपर टर्कीका अधिकार हुआ तो हिन्दुओंका प्रवेशाधिकार समाप्त कर दिया गया कि कहीं पुनः इसपर अधिकार न कर लें।

यहाँपर प्रतिवर्ष मेला लगता था जिसमें सभी प्रान्तोंके लोग आते थे। उस समय एक कवि-सम्मेलन होता था जो एक अत्यन्त आकर्षण-केन्द्र था। जो कविताएँ श्रेष्ठ होतीं, वे स्वर्णपत्रपर उट्टंकित होकर मक्केश्वर-मन्दिरमें टाँगी जाती थीं और कवियोंका धन एवं उपाधिसे मान होता था। यों सहस्रों कविताएँ इस मन्दिरमें लटक गयीं तो यह काव्यागार कहा जाने लगा, जो काबा कहा जाता है जो ४४ फीट लम्बा ३५ फीट चौड़ा और ४० फीट ऊँचा हॉल है।

ज्ञान नितरां अल्प था। वैयाकरण या संस्कृतज्ञ अत्यन्त न्यून हो रहे थे, यातायातकी कठिनाईके कारण आजकी तरह गमनागमन सुगम न था। फलतः काव्यागारकी जगह काव्या और फिर शनैः शनैः काबा कहा जाने लगा, वैसे अर्वीय भाषामें काबा ऊँची जगहका नाम है। यह स्थान भी एक पहाड़ीपर है अतः सामान्य भूस्तरसे ऊँचा है। पर वास्तवमें यह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिसे ऊँचा था।

बंगालमें विद्याको विद्दा कहते हैं पर लिखते हैं विद्या, अन्त्य संयुक्ताक्षरका उच्चारण नहीं होता। तद्वत्

काव्यको काव्व कहते हैं। 'काव्या स्यात् पूतनाधियोः' इस कोषसे जहाँ काव्य-निर्माणक्षमा बुद्धियाँ एकत्रित होती हैं इसे भी काव्या कहा जाता है।

मन्दिरमें मकेश्वरकी प्रतिमा कृष्णपाषाण-निर्मित हैं जिसे अल्ला कहते हैं। अलं=सर्वं विश्वं स्वस्मिन् लाति=आदत्ते सः। [पृषोदरादित्वात्] यह शब्द स्त्रीलिंगमें सर्वशक्तिमती भगवती आद्या शक्तिका वाचक है तथा पुंल्लिङ्गमें सर्वशक्तिमान् महादेवका।

इस प्रकारके नाम प्रान्तभेदसे विविधरूपसे उच्चरित होते हैं। 'बालाजी' उत्तरभारतमें हनुमान्के अर्थमें आता है और दक्षिणभारतमें विष्णुके लिए प्रयुक्त होता है। बापू शब्द उत्तरभारतमें पिताके लिए और महाराष्ट्रमें बच्चेके लिए। कवि लोग भगवतीकी अंशभूता शक्ति सरस्वतीके लिए अल्लाका प्रयोग करते और साधारणजन सर्वशक्तिमान् ब्रह्मके प्रतीक शिवलिङ्ग मकेश्वर महादेवके लिए।

मोहमदसाम्को ऐसे विशिष्ट स्थानकी आवश्यकता थी। वे सोचते थे कि अद्यावधि देवपूजन-निरत वर्गको एक प्रतीक अवश्य चाहिए और वह उनकी प्रारम्भिक शिक्षाका आद्य-स्थल भी था। अतः इस प्रसिद्ध मन्दिरको सर्वथा नष्ट न होने दिया। यद्यपि ३६० देव-देवियोंकी मूर्त्तियाँ वहाँ लगी थीं वे अवश्य नष्ट कीं। वस्तुतः निराकारका प्रतीक उन्हें एक ही चाहिए था।

इसमें पूजन-अर्चनकी वाह्य विधि सामग्री आदिका झंझट हटाकर प्राचीनकालसे चली आ रही वैदिक प्रक्रियाको ही चालू रखा, जो यों है—

१. पूर्णरूपेण मुण्डन [तीर्थमें सर्वप्रथम यह आवश्यक कर्त्तव्य है]

२. शुद्ध धुले हुए दो वस्त्र।

[शुक्ले अहतवाससी परिधाय]

'उपवीते च द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि'

पहले इस मन्दिरमें नग्न होकर ही प्रवेश होता था पर मोहमदसामने दो वस्त्र कर दिये। अब बाहर नग्न होकर लँगोटीमात्र धारण करनेकी प्रथा है। यह वास्तवमें वैदिकाचार है।

३. मकेश्वरकी सात परिक्रमा।

४. यात्री आदरार्थ शिवलिङ्गका चुम्बन करते हैं।

५. इस यात्राको अ[ह] जयात्रा और भगवद्भक्तोंको अ[ह]जरत कहते हैं।

अवस्थानमें एक प्राचीन नगर [शिवं या शिवोम्का रूप] को एराम [रामका स्थान] कहते हैं। इससे ४० मील दूर शिवून [शिवायन] है जो शिवकी शीतकालिक राजधानी मानी जाती है। इससे कुछ दूर हो 'तारेम' [तारायन] तारा

[देवी] के पसन्दकी जगह है। अवंस्थानी इस पुगलको जगदुत्पादक मानते रहे हैं।

अवंस्थानमें स्त्रियोंको हिन्द कहते हैं। मोहमद साभके सन्निकट भी हिन्द नामकी एक स्त्री रहती थी, जिसके लिए वे कहा करते थे 'अल्ला मेरी इस प्रियाको और जिस देशके नामपर इसे यह संज्ञा मिली है उस देशको समृद्ध करो। मोहमदसाभकी स्त्रियोंसे कोई जीवित सन्तान न थी। प्रथमा स्त्री खदीजासे जो उनसे उम्रमें बीसों वर्ष बड़ी थी एक कन्या हुई थी जो पूता[फा]त्मा नामसे ज्ञात थी, इसके हसन, हुसेन नामक दो पुत्र थे जो कर्बलामें मारे गये। हसन, हुसेनके वंशजोंको सैयद उपाधि लिखनेका अधिकार था।

मोहमदसाभकी हिन्द देशके प्रति शुभेच्छा रखना एक विशेष बात है और यही भारतीय संस्कृतिके प्रति उनका समादर है।

उस समयके प्रमाणित इतिहासका उल्लेख नहीं मिलता। लोगोंने परवर्ती कालमें अपने अनुकूल मनगढ़न्त बातें जोड़कर उसे विरूप कर दिया। वस्तुतः इस क्रान्तिके बाद मुसलमान बहुत प्रान्तोंमें शासक रहे अतः इन्होंने अपने इतिहासको इतिहास न रहने दिया अपितु मनोहर प्रभावी कथाके रूपमें रच दिया, पर शब्द वही रहे।

वस्तुतः सत्य इतिहास इन शब्दोंकी व्युत्पत्तिमें मिलता है।

वस्तुतः आज जो हिन्दू मुसलमानका वैमनस्य है वह सनातनी, शैव, वैष्णव, कापालिक, शाङ्कर, रामानुज, आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी, दादूपन्थी, बाममार्गी, बौद्ध, जैन आदि वादोंके पारस्परिक विद्वेषकी तरह है। इतने मात्रसे उनका जात्यन्तर होना असंगत है।

आजकल राजनीतिमें विविध वर्ग हैं, जिनका परस्पर वैमत्य, विरोध, विद्वेष है, पर जात्यन्तर नहीं है। तद्वत् प्राचीन कालमें धार्मिक वर्ग थे, अपने विश्वासके आधारपर, उससे जात्यन्तर कल्पना न होना चाहिए थी।

वे आर्य हैं। उन्हें जो म्लेच्छ कहा जाने लगा, इसका तो स्पष्ट अर्थ ही महाभाष्यकार पतञ्जलिने पस्पशाह्निकमें कहा है कि यदि हम अशुद्ध शब्दोंका व्यवहार करने लगें तो म्लेच्छ कहे जायेंगे, अतः शुद्ध शब्द परिज्ञानार्थ व्याकरणाध्ययन आवश्यक है।

पाणिनिके 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' धातुसे म्लेच्छ शब्द बना है। मूलमें हो अव्यक्तेका अर्थ किया है 'अव्यक्ते अस्फुटे अपशब्दे च' अर्थात् जो मनुष्य ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, व, ब, श, ष, स एवं संयुक्ताक्षरोंके उच्चारण स्फुट न कर सकें या शब्दका, अर्ध चतुर्थांश उच्चारण करें या उच्चारणमें दुर्बलताके

कारण मूल शब्दको विकृत करें [जैसे महीकाको मका या मक्का अलिपुरको अल्लिपुर मलाको मल्ला] वे म्लेच्छ हैं। व्युत्पत्ति मूलकार की है किसी व्याख्याकारकी नहीं। इस आधारपर तो आज हममें ही ९५% प्रतिशत म्लेच्छ कहे जा सकते हैं फिर इनका ही क्या दोष है।

कई बार पारस्परिक संघर्ष दुराग्रह और अज्ञानवश भी हुए हैं। कुन्तीने कर्णसे कहा था कि तुम मेरे पुत्र हो, अतः अपने भाइयोंमें रहो, राज्य करो, इनको संभालो, इनसे लड़ो मत। पर पहलेकी कई घटनाएँ ऐसी हो गयी थीं जिसने दुराग्रह बढ़ गया था और फलतः महाभारत हुआ। वस्तुतः यह वर्ग भी न जान पाया कि वह भारतकी विश्व-ताप-हारिणी संस्कृतिके अंग ही हैं। अपनेको पृथक् समझकर परस्परमें लड़े। जो जानकार थे या हो सकते थे वे मन्त्री, मुसाहिब, काजी बननेकी कामनासे मौन रहे या विपरीत बोलते रहे। कितनी भूल भ्रम, वितण्डा थी वह ???

मोहमदसाभने सम्प्रदायको एक ध्वज दिया जो भगवान् महादेवके अनुयायियोंके अनुरूप अर्द्धेन्दुशेखर महादेवके प्रिय चिह्न शुक्ल प्रतिपदाके चन्द्रसे युक्त नीलध्वज था। (१) उस समय प्रायः सूर्यवंशी राजाओंका प्रभुत्व था, अतः इस नवीन प्रतीत होनेवाले वर्गको प्राचीनसे पृथक् समझे जानेके लिए चन्द्र-चिह्न दिया। (२) यह वर्ग नवेन्दुवत् प्रतिदिन बढ़ता रहे। (३) शिवके प्रियचिह्न-युक्त होनेके कारण सदा उसकी कृपासे युक्त हो। ध्वजका रंग नीला रखनेमें प्राकृतिक व्यापक भावना थी। जैसे भँगवा रंग सूर्यके उदयास्त कालके रंगके समान या अग्निज्वालाके समान होनेसे प्राकृतिक माना जाता है तद्वत् उनसे भी अधिक व्यापक है आकाशका एवं समुद्रका भासमान नीला रंग। वास्तवमें आकाश या समुद्रका कोई रंग नहीं। पर प्रतीत यही होता है। अतः यह प्राकृतिक व्यापक रंग लिया कि यह ध्वज भी इसी प्रकार व्यापक रहे। क्योंकि निराकारका उपासक प्रत्येक वस्तुमें व्यापकता देखनेका इच्छुक था।

प्रतिपच्चन्द्र सूर्यास्तके कुछ क्षण बाद दीखता है, उस समय आकाशमें बहुत अल्प तारे होते हैं, अतः ध्वज चन्द्रके ऊपर एक ही तारा रखा जो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'का बोधक घोषवाक्यके समान है जो मूक रूपसे सूचना देता है कि निराकार ब्रह्मोपासना ही वर्णाश्रमसेव्य है और दुःख शामक है।

वास्तवमें मोहमदसाभकी भावना पवित्र और प्राचीन संस्कृति-पोषक थी, पर परवर्ती अनुयायियोंने तदनुकूल कार्य नहीं किया। अपितु स्वार्थ-पोषण किया।

जब मनुष्य अपने वर्गको पृथक् समझने लगता है तो पहिलेवालेसे श्रेष्ठ होनेकी भावनासे ही वह अलग होता है और वैसा ही समझकर व्यक्त वर्गको हेय समझता है।

अस्तु, ऊपरके उद्धरण इस तथ्यके पोषणार्थ पर्याप्त हैं कि मोहमदसाहबने प्राचीन आर्य-संस्कृतिसे परिपोषित ही उपदेश दिये, जिस भावको उनके शब्द कह रहे हैं।

भारतीय आचारमें अश्वमेध गो-मेधकी परिपाटी थी तद्वत् यहाँ बकरा ईदकी परिपाटी चली। ईद शब्द ईडस्तुतौ धातुसे बना है, जो पूजा, साधना, देवकी प्रसन्नता अर्थमें व्यवहृत होता है।

किसी समय यह मेषकी संक्रान्ति पर पड़ा था। मेष=बकरा। यह संक्रान्ति चैत्र या वैशाखमें आती है। बंगालमें मेषसंक्रान्ति (पहला वैशाख) वर्षारम्भ प्रथम दिन है। इस दिन मेषवध (बकर-ईद) होता था। मुसलमान मासारम्भ—और वर्षके दोषके कारण वह—३६ वर्षके बाद उस मासमें पड़ता है। अज्ञानके कारण वे चान्द्रमासको ठीक न बैठा सके।

ग्यारवीं शरीफ वास्तवमें एकादशी है शबरात=शिवव्रत है, जो २४वीं शरीफको मनाया जाता है। वस्तुत: यह शिवरात्रिव्रत है जो फाल्गुनमें कृष्णचतुर्दशीको होता है।

चूडाकरण-संस्कार जिसमें बच्चेका प्रथम मुण्डनसंस्कार होता है को 'चिल्ला' कहते हैं। वस्तुतः यह संस्कृत के चूडाला [चूडां लाति=आदत्ते सा क्रिया चूडाला जिस क्रियासे बच्चेके बाल काटे जायँ वह क्रिया] का अपभ्रंश है। भारतीय संस्कृतिके धर्मोंमें ही कर्णवेध होता है। जन्मके छठें दिन षष्ठी उत्सव होता है जिसमें विधि भाग्य लिखता है—ऐसा विश्वास है। पाँचवाँ वर्ष विद्यारम्भका है जिसमें पाटीपर चन्दनसे अक्षर लिखकर बच्चेको चटाया जाता है। बच्चा पढ़कर गुरुको दादिया [गुरुदक्षिणा] देता है। ऋतुमती स्त्री सात दिनतक नापाक [अशुद्ध] समझी जाती है। स्वप्नदोषके बाद युवक भी जबतक स्नान न करे अशुद्ध समझा जाता है।

ये सब भारतीय वैदिक संस्कृति-मूलक आचार हैं जिन्हें विचारपटलसे दूर करना असम्भव है।

भारतीय संस्कृतिमें ब्राह्मण, क्षत्रिय यदि देश-विदेशमें जाकर संस्कृति या विजय या धर्मस्थापन न करे तो उन्हें अपराधी, निन्द्य या अयोग्य कहा है। फलतः सभी तीर्थस्थानोंमें भ्रमण करनेकी भारतीय परम्परा है। इन्हें विविध धार्मिक सम्मेलनों [मेला] का रूप दिया है। हमारी दुर्बलताके कारण भारतके अङ्ग कटते गये। अन्य शासनाधीन होते गये १००-२०० वर्षतक कुछ धुँधली स्मृति रही। फिर वह भी लुप्त हुई। अफगानस्थान हमारा

था। विश्वके प्रथम और अन्तिम महा-वैयाकरण पाणिनि यहीं उत्पन्न हुए थे। तक्षशिलाका विश्ववन्द्य विद्यालय वहीं था। कैकेयी और गान्धारी इस प्रान्तकी बेटी थी। इस क्षेत्रमें हमारे हजारों तीर्थ थे, जिन्हें न आज हम जानते और जानकर भी अपना नहीं कह सकते। मानसरोवर, लङ्का, वर्मा, तिब्बत सभी तो हमारे थे। कलसे पाकिस्तान द्वारा दबोचा गया प्रदेश क्या आज हमारा है? क्या हम वहाँ स्वतन्त्रतासे अपने धार्मिक स्थानों-में जा सकते हैं?

यही स्थिति मकेश्वरकी हुई।

●

जो चाह कर

जा, अब जो चाह कर
जगन्नियन्ता बोला जीवसे,
इस क्षण मैं तुझसे यों हीं प्रसन्न हो गया हूँ
भेज रहा हूँ प्रवासपर,
इस बार तुझे आवास हेतु दे रहा हूँ दिव्य भवन,
जिसका नाम है मानव तन।
मैं इसका किञ्चित् किराया न चाहूँगा,
चाहूँगा केवल इतना कि तू इसका सदा सदुपयोग कर।
यदि ऐसा करेगा तो हे जीव!
मैं तुझे अपने हृदय में बसा लूँगा।
यदि चूक गया तो निश्चित जान,
यह भवन तो मैं तुझे दे न सकूँगा।
मेरे पास तेरे लिए भाँति-भाँति के असंख्य घर हैं।
उन्हींमें-से कोई एक,
जिसके योग्य होगा तू,
उसीमें भेज दूँगा।
आशा है तू मेरा हृदयावास पानेका प्रयास करेगा।
अन्यथा वही पायेगा
जिसकी ओर चलेगा।
जा, अब जो चाह कर।

—श्री रामाश्रय दीक्षित

सुखसे जीवो

श्री रामकुमार भुवालका, कलकत्ता

सुख कौन नहीं चाहता ? प्रत्येक प्राणी सुखी जीवनकी कामना करता है और सतत इसी प्रयासमें लगा रहता है कि उसे दुःखों-से, कष्टोंसे मुक्ति मिल जाय। सुखकी यह खोज एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आदिकालसे चालू है। हमारे ऋषि और सन्त भी सांसारिक पाशसे मुक्त होकर ब्रह्मज्ञान अर्जित करते हुए सुख-भोग करते थे। वे ईश्वरकी आरा-धनाको ही सुखका मूल मानते थे। इसीलिए तुलसीदासजीने कहा भी है कि—

सुखमें सुमिरन सब करे,
दुःखमें करे न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करे,
तो दुःख काहे को होय॥

ईश्वरकी आराधनामें सुखकी कल्पना ऋषियोंने की है, तो चिन्ता-मुक्तिको भी दार्शनिकोंने सुखका पर्याय माना है। दार्शनिक महर्षि चार्वाकने इसी आधारपर एक सूत्र दिया था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्,
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।

ऋण करके भी घी पीनेका शाब्दिक अर्थ कुछ भी हो, पर इसका लाक्षणिक अर्थ यही है कि चिन्ता किसी भी सूरतमें नहीं करनी चाहिए। चिन्ताको चिताके समान माना गया है, जो देहको जलाकर भस्म कर देती है।

सुखी जीवनकी लालसा अदम्य है। अतः आधुनिक युगमें भी इस दिशामें प्रयास जारी है। कई साधु-सन्तों और लेखकोंने इस विषयमें अपने विचार व्यक्त किये हैं। अम-रीकी लेखक डेल कार्नेगीने 'चिन्ता छोड़ो, सुखसे जीवो,' (How to Stop Worrying and Start Living) शीर्षक एक पुस्तक लिखी है। पुस्तकमें विद्वान् लेखकने धर्म-भीरुता, निद्रा, संगीत तथा विनोदको सुखी जीवनके लिए आवश्यक बत-लाया है। धर्म-भीरुताका अर्थ है ईश्वरमें आस्था रखना। आस्था जीवनको विपत्तिकी घड़ियोंमें काफी सहारा देती है, भले ही वह समस्या-का समाधान न करती हो। आस्थासे मनुष्य चिन्तामुक्त हो जाता है।

कार्नेगीका कहना है कि मनुष्यको चिन्ता व भय छोड़कर साहसके साथ स्थितिका सामना करना चाहिए। उसे स्वस्थ बने रहनेकी भी कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि स्वास्थ्यका सुख-दु ख-से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य चिन्तासे मुक्त रह सकता है ? यदि नहीं, तो कम-से-कम वह प्रयास करके अपनी चिन्ताएँ कम तो कर ही सकता है। भविष्यकी चिन्ता तो छोड़ ही देनी चाहिए और अतीतको भी भुलाकर प्रतिक्षण वर्तमानमें जीना चाहिए। भविष्यमें अनिष्ट होनेपर मनमें क्लेश न हो।

व्यस्तता भी काफी हदतक चिन्तासे मुक्त रखती है। खाली दिमाग शैतानका घर होता है और उसीमें दुश्चिन्ताओंका निवास होता है।

परिस्थितियोंसे समझौता कर लेना चाहिए; क्योंकि जो चीज बदली नहीं जा सकती; उसके लिए जूझनेसे अशान्ति ही बढती है। डेल कार्नेगीने मनमें सुख और शान्ति बनाये रखनेके कई उपाय बताये हैं—

(१) अपने मस्तिष्कमें शान्ति, साहस, स्वास्थ्य और आशाके विचार रखिए। हमारा जीवन वैसा ही होता है, जैसा हमारे विचार उसे बनाते हैं। (२) जैसेके साथ तैसा करके हानि न उठाइए। इससे आप अपना ही अहित करेंगे, अपने शत्रुओं-का नहीं। जो अश्रद्धाके पात्र हैं, उनके सम्बन्धमें विचार करनेमें एक क्षण भी नष्ट न कीजिये (३) (क) दूसरोंकी कृतघ्नताको लेकर दु:खी न होकर उसकी उपेक्षा कीजिये। स्मरण रखिये कि ईसाने एक दिनमें दस कोढ़ियोंका उपचार किया था, किन्तु केवल एक कोढ़ीने ही उन्हें धन्यवाद दिया। जितनी कृतज्ञता ईसाके सामने दर्शायी गयी, उससे अधिकको आशा हम क्यों करें ? (ख) स्मरण रखिये, उपकारजन्य आनन्दके लिए उपकार कीजिये। दूसरोंमें कृतज्ञता पानेकी चिन्ता न कीजिये। सुखप्राप्तिका यही एक सही उपाय है। (ग) स्मरण रखिये कि कृतज्ञताका भाव अभ्याससे विकसित होता है, यदि आप चाहें कि आपके बच्चे कृतज्ञताका भाव अपनायें तो आप उन्हें कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए शिक्षित कीजिये। (४) अपनी नियामतोंको याद रखिए, दु:खोंको नहीं। (५) दूसरोंकी नकल मत कीजिये। अपने आपको पहचानिये और जो आप हैं, वही बने रहिये, क्योंकि स्पर्धाका दूसरा नाम अज्ञान है और नकलका नाम आत्महत्या। (६) यदि भाग्यमें खटास मिले, तो उसे मिठासमें बदल दीजिए। (७) दूसरोंको सुख देनेका प्रयास करके अपना दु:ख भूल जाइये। दूसरोंके

प्रति भले बनकर ही आप अपने प्रति श्रेष्ठ बन सकते हैं।

अपनी चिन्ताओं और व्याकुलता-में हम भगवान्‌का सहारा क्यों न लें? ईश्वरमें निष्ठा रखें, इसकी हमें बड़ी आवश्यकता है। हमें आज ही, अभीसे सृष्टिका संचालन करनेवाली उस अनन्त शक्तिके साथ अपना नाता जोड़ लेना चाहिए।

प्रार्थना करके हम अपने वास्तविक दुःखको वाणीमें प्रकट कर सकते हैं।

प्रार्थनासे हमें ऐसा अनुभव होता है कि मानों हम अपने दुःख-भारको अकेले न ढोकर दूसरोंमें बाँट रहे हैं। हममें-से कुछ ही व्यक्ति ऐसे समर्थ हैं, जो अपने भारको तथा यातना देनेवाले कष्टोंको अकेले ही सह लेते हैं।

प्रार्थनासे रोगीको व्यस्त रखनेके सिद्धान्तको बल मिलता है। उसे व्यस्त रखनेकी यह पहली अवस्था है।

यदि आपको प्रार्थना करनी न आती हो; तो आप इस तरह बोलिये।

'हे प्रभु, मुझे अपनी शान्तिका उपकरण बना, ताकि मैं घृणाके बदले प्रेम, अपकारके बदले क्षमा, नैराश्यके बदले आशा, अन्धकारके बदले प्रकाश तथा उदासीके बदले उल्लासके भाव प्रकट कर सकूँ।

हे भगवान्, मुझे वरदान दे कि मैं अपने धैर्यकी परवाह न कर दूसरों-को धैर्य दे सकूँ। दूसरोंका प्रिय बननेकी लालसा न रख उनको प्यार कर सकूँ। क्योंकि हम देकर ही ले सकते हैं, क्षमा करके ही क्षमाके पात्र बन सकते हैं; दूसरोंके लिए मरकर ही अमर बन सकते हैं।

आलोचनाकी चिन्ताको छोड़ सुखकी कामना करें

(१) अनुचित आलोचना बहुधा परोक्षमें हमारी प्रशंसा ही है। प्रायः उसका अर्थ यह होता है कि आपने दूसरोंमें स्पर्धा एवं ईर्ष्याको भड़काया है। स्मरण रखिये मरे हुए कुत्तेको कोई लात नहीं मारता।

(२) आलोचनाकी उपेक्षाकर भरसक उत्तम कार्य कीजिये। (३) अपनी भूलोंका लेखा रखिये और अपनी आलोचना स्वयं कीजिये; हम अपनेमें पूर्ण नहीं हैं। निष्पक्ष, लाभकारी एवं रचनात्मक आलोचना जाननी चाहिए।

वित्तीय चिन्ताओंको दूर करनेके उपाय

(१) तथ्योंको कागजपर उतारिए। (२) ऐसा बजट बनाइये जो आपकी आवश्यकताओंके साँचेमें ढल जाये। (३) विवेकसे खर्च करना सीखिये। (४) आय-वृद्धिके लिए अपना सिर दर्द मत बढ़ाइये। (५) आपको कभी उधार भी लेना पड़े, तो उस दिनके लिए अपनी साख बनाये रखिये। (७) अपने बच्चोंको पैसेका आदर करना सिखाइये।

(८) कभी जुआ मत खेलिये।
(९) यदि अपनी वित्तीय अवस्थाको सुधारना सम्भव न हो, तो अपनेपर कृपा कीजिये। जो बदल नहीं सकता उसको लेकर रोष मत कीजिये।

चिन्तासे मुक्तिके लिए डेल कार्नेगीने अनेक तरीके बतलाये हैं, जिनके परीक्षणके प्रमाण हमको महात्मा गांधी, महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध-सरीखे युग-पुरुषोंके जीवन-वृत्तोंमें मिलते हैं। भगवान् कृष्णका भी उल्लेख इस दृष्टिसे समीचीन है। उन्होंने अपने शिष्य व मित्र अर्जुनको दुश्चिन्ताओंसे मुक्त करनेके लिए जो उपदेश रणभूमिमें दिया था, वह गीताके रूपमें विश्वविख्यात हुआ। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है कि मनुष्यको निष्काम भावसे कर्म करना चाहिए और फल ईश्वरके ऊपर छोड़ देना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्य दुःखसे बचा रहता है, क्योंकि वह हर शुभ या अशुभ परिणामको भगवान्का निर्णय मानकर समानभावसे ग्रहण करता है।

आनन्द परिस्थितियोंके अधीन नहीं। आनन्द एक स्थिति है। साधना वह है जो मनको सीधा करे। इच्छा पूरी हो जाय, तो लोभ बढ़ता है, पूरी न हो तो क्रोध बढ़ता है। इसीलिए इच्छाके अभावमें ही शान्ति और सुख है। अगर कोई चीज प्राप्त हो जाती है, तो शान्तिसे शुक्र करो, अगर नहीं प्राप्त होती, तो सब्र कर बेचैन होओ। जैसा सोचोगे, वैसा हो जाओगे। अतः जैसा होना है, वैसा सोचो।

सद्भाव और सद्जीवन सुखके मूलाधार हैं। सृष्टिके प्रत्येक जीवके लिए मैत्री व दयाका भाव रखना चाहिए और राग-द्वेषको दूर कर, आहार-विहार संतुलित रखकर जीवन बिताना चाहिए। सृष्टिमें हर जीव ईश्वरका पैदा किया हुआ है। यह मानकर उससे प्रेम करना चाहिए। प्रेमसे चित्तको शान्ति मिलती है और मस्तिष्क विकारोंसे मुक्त रहता है, यही सुख है।

आहार-विहार और व्यवहारकी सात्त्विकता मनुष्यको सुखकी ओर ले जाती है और निर्विकार मन ही उस सुखका भोग कर सकता है। यह मानकर इसके अनुरूप अपने जीवनको ढालकर देखिये आपको सुख मिलेगा।

लोग धूम्रपान क्यों करते हैं ?

श्री हरीश अग्रवाल

लोग धूम्रपान क्यों करते हैं ? इसका आसान उत्तर यही हो सकता है कि लोगोंको इसमें आनन्द आता है और उनकी आदत बन जाती है।

स्वीडनके अनुसन्धानकर्ताओंका कहना है कि धूम्रपान करनेवालोंको निकोटीनकी जरूरत होती है। यह जरूरत मनोवैज्ञानिक है। चिन्ता और काममें धूम्रपानकी जरूरत और बढ़ जाती है। जिसका मतलब है कि शरीरको इस नशीले पदार्थकी और जरूरत होती है।

स्वीडनके अनुसन्धानकर्ताओंका कहना है कि निकोटीन सीधे दिमागमें जाती है और उसको पाँच मिनट तक उत्तेजित करती है। दस मिनटमें दिमागसे यह खाली हो जाती है और जिगर व गुर्देमें पहुँचकर मूत्रमें निकल जाती है।

एक अमरीकी मनोवैज्ञानिकने धूम्रपान करनेवालोंके मूत्र तथा धूम्रपानकी आदतसे सम्बन्धका अध्ययन किया। वह इस नतीजेपर पहुँचा कि मूत्रकी अम्लता-में संशोधन करके सिगरेटोंकी संख्या कम की जा सकती है। उसने सुझाव दिया कि यदि कोई व्यक्ति अधिक क्षारीय नमक (जैसे बाइकार्बोनेट आफ सोडा) ले, तो उसकी धूम्रपानकी तलब कम होगी।

अधिक धूम्रपान करनेवालोंके लिए यही रास्ता सरल है कि वे अधिक अम्ल (एसिड) वाले खाद्य पदार्थ न खायें।

करुण-निवेदन

(१)

विश्व बीच अटक-भटक के तुम्हारे द्वार,
आया हूँ बनाओ या बिगाड़ो, जो उचित हो।
भाग्य-डोर सौंप दी तुम्हींको अन्य मार्ग छोड़,
बंदी करो अथवा छुड़ाओ, जो उचित हो।।
मेरी हार-जीत, हार-जीत है तुम्हारी नाथ,
अब तो हराओ या जिताओ, जो उचित हो।
जीवन-तरीकी पतवार है तुम्हारे हाथ,
पार करो अथवा डुबाओ, जो उचित हो।।

—डॉ० जगदीश वाजपेयी

संतश्री भानुदास जी

श्री यशवन्त बलवन्त क्षीरसागर, बम्बई

श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्धपर महाराष्ट्र-भाषामें 'एकनाथी भागवत'के रूपमें रसमयी विस्तृत टीका लिखनेवाले श्रीसंत एकनाथ जी महाराज अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। आपका साहित्य विपुल है और आध्यात्मिक जीवनमें आपका बड़ा गौरव तथा आदर है। सन्तश्री भानुदासजी महाराज एकनाथजी महाराजके प्रपितामह थे।

श्रीसन्त भानुदासजी महाराजके जीवनके बारेमें निश्चित जानकारी अभीतक नहीं मिली है लेकिन प्राचीन कवि—श्री विट्ठल कवि, श्री केशव स्वामीजी तथा श्री महीपतिजीने इनका चरित्र लिखा है। स्वयं श्री एकनाथजी महाराजने 'एकनाथी भागवत'के प्रथम अध्यायमें १०-१५ पंक्तियोंमें अपने प्रपितामहका स्मरण किया है। श्रीभानुदासजी महाराजके प्रायः सौ अभंग प्राप्त हैं। एक पदमें श्री पंढरीनाथजीका वर्णन है।

पैठणमें एक सूर्योपासक ब्राह्मणके घरमें स० १४४८ ई० में सन्त भानुदासजीका जन्म हुआ। पढ़ाईमें विशेष तेज न होनेसे व्रतबन्धके बाद घरसे निकलकर एक गुफामें छिप गये। यहाँ श्री सूर्यनारायणकी एक मूर्ति थी। उनकी कृपा इन्हें मिली। एक वृद्ध सत्पुरुष उनकी खान-पान व्यवस्था करते रहे। यह बात छिपी न रह सकी। और लोग इन्हें 'भानुदास' कहने लगे। लोग इन्हें पकड़ ले गये और बचपनमें ही ब्याह कर दिया। फिर भी सांसारिक बातोंमें इनका मन नहीं लगा। विरक्ति बराबर बनी रही।

गृहस्थाश्रमी भानुदासजीकी मदतमें व्यापारी-मित्रोंने कुछ द्रव्य-संग्रह कर, कपड़ेका व्यापार करनेके लिए प्रोत्साहित किया। श्री भानुदासजीने लाभ-हानिकी परवाह किये बिना व्यापारमें सत्यव्रत धारण किया। परिणामतः ग्राहक भानुदासजीकी ओर आकृष्ट हुए और मित्रोंका व्यापार घटने लगा।

मित्रोंको ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने एक दिन भानुदासजीका माल

चुराकर गड्ढेमें छिपा दिया। उनका घोड़ा भी भगा दिया जिससे वे माल लाते थे।

भानुदासजी भजन-कीर्तनसे लौटे तो भगवत्कृपासे उन चोर मित्रोंको सद्बुद्धि मिली कि सभी मित्र इनकी शरण आये, घोड़ा मिल गया और सारी बात बताकर उनका सारा माल लौटा दिया।

ईश्वरका श्रम और उनकी कृपा दृष्टिका अनुभवकर विरक्तिका उदय हुआ। उन्होंने अपना सारा मालमत्ता गरीबोंमें बाँट दिया और भावविभोर हो एक अभंगमें गाते हैं—

देवा कोठवरी अंत पाहनो सी प्राण कंठापाशी ठेवियेला।
पलभर चित्ता नाही समाधान चिंतेने व्यापून घेतलेसे॥
नानापरीचे दुःख येवोनि आदलत शोके व्याकुल चित्त होत माझे।
यासी तो उपाय न कलेची मज शरण आलो तुज देवराया॥
इच्छा पुरवून सुखरुप ठेवी भानुदास हृदयीं ठाव मागे।

हे भगवन्, आप कहाँतक मेरा अन्त देखते रहेंगे? मेरे प्राण अभी कण्ठमें पहुँच गये हैं। अनेक-विध दुःखोंके आघातसे शोकाकुल तथा चिन्ताग्रस्त मेरा मन तनिक भी समाहित नहीं हो रहा है, न कोई उपाय सूझता है। अतः भानुदास आपकी शरणमें है। मुझे अपने हृदयमें स्थान देकर मेरी इच्छा पूर्ण करें।

मुझ अनाथकी उपेक्षा आप क्यों कर रहे हैं। हे पण्ढरीनाथ! आप भली भाँति जानते हैं कि त्रिलोकीमें मेरा अन्य सहारा नहीं है। आप ही मेरे देवता हैं। मैंने बहुत कष्ट झेला। मुझे आपने क्यों पैदा किया?

कोणाच्या आधारे असावे म्यां येथे जन्मविले व्यर्थ का गा मज।
आम्हासी क्लेशात बहु पाडियेले काय हाता आले तुझ्या देवा॥

वे प्रभुको प्यारभरा उलाहना देते हुए गाते हैं—

मज निरविले कोणाचिये हाती वैकुंठी श्रीपति राहिलासी।

मुझे किसके हाथमें सौंपकर आप वैकुण्ठमें विराज रहे हैं?

काय राग आला तुझिया मनात तयामुले शोकांत पाडियेले।
अन्यायाची राशि देहचि सगला हा राग गोपाला न मानावा॥
क्षमा करी माझे सर्व अपराध—

क्या आप मुझपर नाराज हो गये हैं? इसी कारण शोकमें डाल रहे हैं? निश्चित ही यह देह अन्यायकी राशि है। इसलिए गोपाल, आप गुस्सा मत कीजियेगा। मेरे सभी अपराध क्षमा कीजिए।

प्रभुके विरहमें शरीर तथा प्राणोंको होनेवाली पीडा उन्हींके

चरणोंमें निवेदन करते हुए कहते भगवन्, मैं दुःखसे व्याकुल हो हूँ—मैं कहांतक आपको पुकारूं रहा हूं।

कंठ रोधियेला श्वासावरी श्वास चालूनी नेत्रासी नीर वाहे।
दाही दिशा मज वाटती उदास झाला कासावीस प्राण माझा॥
हीन कर्म माझे फुटके अदृष्ट म्हणवोनि संकट ऐसे झाले।

मेरा गला सूख गया है। श्वासकी गति बढ़ गयी है। आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही है। दसों दिशाएँ उदास लग रहीं हैं और मेरे प्राण तड़फ रहे हैं। मानो मेरे कर्म-हीन होनेसे, तथा मेरा प्रारब्ध टूटा फूटा होनेसे ही यह संकट मुझपर छा गया है। श्री चरणोंका दर्शन ही मेरी यह तड़फन मिटा सकता है।

शुरूसे ही पण्ढरपुरके श्री पण्ढरीनाथ महाराजके प्रति श्री भानुदासजी-का सहज आकर्षण था। श्री पाण्डुरंग (पण्ढरीनाथ) के चरणोंमें की हुई उनकी एक विज्ञप्ति देखिये—

अहो पांडुरंगा, पतितपावना आमची विज्ञापना एक असे।
नामाचा उच्चार, संताचा सांगात पुरवावा हेत जन्मोजन्मी॥
भलतिये याति, भलतिये कुली जन्म दे निर्धारी पांडुरंगा।
भानुदास म्हणे, दुजा नको धदा रात्रंदिवस गोविंदा वाचे नाम॥

हे पतितपावन पण्ढरीनाथ, किसी भी जातिमें तथा किसी भी कुलमें (वंशमें) हमें जन्म दीजिये परन्तु मेरी इतनी ही इच्छा है कि जन्म-जन्मान्तरमें आपके नामका उच्चारण होता रहे। सन्तोंका संग मिले। भानुदासजी कहते हैं कि हे गोविन्द, दिन-रात आपके नामके सिवा मैं दूसरा कोई भी व्यवसाय करना नहीं चाहता।"

श्री पण्ढरीनाथकी जगह प्रभु रामचन्द्रका नाम लेते हुए सन्त भानु-दासजी एक अभंगमें गाते हैं—

भगवन्, आपके दर्शनके लिए मेरी आँखें ललचती रहें। मेरी वाणी राम-नाममें निरन्तर स्थिरतापूर्वक लगी रहे।

भानुदास म्हणे, होच मति स्थिर राम-राम निर्धार गाईन मुखी॥

भक्तिमें बाधा डालनेवाला वेदान्त शायद श्री भानुदासजी महाराज-को पसन्द नहीं। एक अभंग देखिये—

वेदान्त सिद्धान्त, एकोनिया गोष्टी मन जाहले चावटी, देवराया॥
परी त्याचा बोध, न ये कांही चित्ता फजिती तत्वता, मागे पुढे।
संसाराचे जाले, पडतसे गुंती करिता कुंभा-कुंभी, न निघेचि॥
भानुदास म्हणे, सावलया श्रीरामा, देइ तुझा प्रेमा, दुजे नको॥

वेदान्त - सिद्धान्तकी बातें सुनकर मेरा मन बहक गया है, भगवन्! इनका असर चित्तपर नहीं पड़ता, बल्कि भविष्यमें फजिहत होनेकी सम्भावना है। संसारका जाल तो इतना उलझ गया है कि बहुत परिश्रम करनेपर भी वह सुलझने-वाला नहीं। भानुदासजी कहते हैं कि हे सांवरे श्रीराम, आपके प्यारके सिवा मैं अन्य कुछ नहीं चाहता।

महाराष्ट्रके अन्य भागवत सन्तों-की तरह श्री भानुदासजी महाराजके अभंगोंमें भी श्री पंढरीनाथ भगवान्के मनोहारी विग्रहका अनुपम वर्णन मिलता है।

जैसा उपनिषदांचा गाभा तैसा विटेवरी उभा।
अंगिचिया दिव्य प्रभा धवलिले विश्व॥

मानो उपनिषदोंका सार-तत्त्व ही श्री पण्ढरीनाथके रूपमें इंटपर खड़ा है। आपके शरीरकी दिव्य झाँकी समूचे विश्वको तेजोमय कर रही है। प्रभुने कमरपर दोनों हाथ रखे हैं। पीताम्बर वैजयन्ती-माला तथा कौस्तुभमणि धारण किये हैं। कल्पद्रुमकी छायामें त्रिभंग-भावसे खड़ा हुआ प्रभु श्रवण-मधुर बांसुरी बजा रहा है।

वेणुचेनि गोडपणे पवन पांगुलला तेणे।
तोही निवे एक गुणे अमृत-धारी॥
अहो लेणियाचे लेणे नाद सुखासी पै उणे।
विश्व बोधिले येणे गोपाल वेषे॥
पुंडलिकाचेनि भावे श्रीविट्ठल येणे नावे।
भानुदास म्हणे दैवे जोडले आम्हा॥

बांसुरीकी मिठाससे पवन स्तम्भित होकर स्वरोंकी अमृत-धारामें भींग रहा है। गोपाल-वेष धारण करके नाद-सुख देनेवाला और समूचे विश्वको प्रबोधित करनेवाला प्रभु सम्पूर्ण अलंकारोंका भी अलंकार है। श्री पुंडलिककी भक्तिसे श्री विट्ठल नाम धारण करनेवाले ये भगवान् अहोभाग्यसे हमें प्राप्त हो रहे हैं।

और एक झांकी देखिये—

वेदी सांगितले, श्रुति अनुवादिले ते ब्रह्म कोंदले पंढरिये।
वालवंटी बुंथी श्रीविट्ठल-नामें सनकादिक प्रेमे गाती जया॥
भानुदास हणे तो हरि देखिला हृदयीं साठविला आनंद भरित॥

वेदोंने जिसका प्रतिपादन किया है तथा श्रुतियोंने अनुवाद किया है वह ब्रह्म पण्ढरपुरमें ठसाठस भर रहा है। सनकादिक जिसका प्रेमसे गान कर रहे हैं वह परमात्मा श्री विट्ठल नामकी ओढ़नी (चद्दर)

ओढ़कर चन्द्रभागाके तटपर खड़ा है। इस हरिका दर्शन करनेवाले श्रीभानुदासजी आनन्द-विभोर होकर उसे हृदय-सम्पुटमें भर ले रहे हैं।

जिन्हें खोजती हुई श्रुतियाँ नेति-नेति कहकर लौट गयीं, और पुराणोंकी गति जहाँ रुक गयी, ज्ञानी जिसके ज्ञानमें तथा ध्यानयोगी जिसके ध्यानमें मग्न रहते हैं, वह परब्रह्म यहाँ ईंटपर खड़ा है।

पुंडलिकाच्या तपे जोडला हा ठेवा भानुदास देवा सेवा मागे ॥

श्री पुंडलिककी तपस्यासे यह खजाना हमें मिला है और भानुदास तो उनकी सिर्फ सेवा चाहता है।

श्री विट्ठल भगवान्‌की लावण्यमयी छवि निहारकर तथा प्रभुकी बाँसुरी सुनकर श्री भानुदासजी महाराजको बड़ी तृप्ति मिलती है। वे कहते हैं श्री विट्ठल भगवान्‌के चरणकमल देखते ही दृष्टि धन्य-धन्य होती है और समूचा वैकुण्ठ हाथोंमें समा जाता है।

श्री पंढरीनाथजीके सान्निध्यमें भानुदासको उन्मनी समाधिका स्मरण तक नहीं रहता—

उन्मनी समाधि नाठवे मनासी पाहता विठोबासी सुख बहु।
आनंदी आनंद अवधा परमानंद आनंदाचा कंद विठोबा दिसे ॥
जागृति-स्वप्न सुषुप्ति नाठवे पाहता साठवे रूप मनी।
नित्यता दिवोली नित्यता दसरा पाहता साजिरा विट्ठल देव ॥
भानुदास म्हणे विश्रांतीचे स्थान विट्ठल निधान सांपडले ॥

श्री विट्ठल (विठोबा) के दर्शनसे इतना सुख मिलता है कि उन्मनी समाधिका स्मरण भी नहीं आता। बस आनन्द, आनन्द और परमानन्दके फुहारे अनवरत उमड़ते रहते हैं। श्री विट्ठल तो आनन्दघन हैं। मनमें प्रभुका रूप व्याप्त होनेसे जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये अवस्थाएँ भी लीन हो जाती हैं। श्री विट्ठलदेवके दर्शनसे दीपावलि तथा विजयादशमीका आनन्द प्रतिक्षण अनुभवमें आता है। भानुदास कहता है कि श्री विट्ठलके रूपमें एक बड़ा खजाना तथा विश्राम-स्थान प्राप्त हुआ है।

जन्म-जन्मान्तरके बहुत पुण्य सम्पादित होनेसे ही मैं श्री विट्ठल भगवान्‌का कृपापात्र और उनका दास बन गया हूँ।

भ्रमर मकरंदा मधासी ती मासी तैसे या देवासी मन माझे ॥

मकरन्दपर जैसे भँवरा, तथा शहदपर जैसे मक्खी मँडराती रहती है उसी तरह मेरा मन प्रभुपर लुभाता है। विट्ठल भगवान्‌के गीत गाते समय दूसरे देवताओंका ख्याल भी मेरे मनमें नहीं आता।

हम शायद अपने बलसे श्री विट्ठल-चरणोंतक नहीं पहुँच सकते इस आशंकासे भानुदासजी महाराज अन्य सन्तोंसे अनुरोध करते हैं—

भानुदास म्हणे, मज पंढरीसी न्यारे सुखे निरवारे विठोबासी ॥

मुझे आप लोग पण्ढरपुर ले चलिये और वहाँ बड़े आनन्दसे श्री विट्ठल भगवान्‌को समर्पित कर दीजिये।

श्री पण्ढरीनाथके दिव्यधामका—श्री पण्ढरपुरका माहात्म्य गाते हुए सन्त कहते हैं—

साक्षात् भू-वैकुण्ठकी भाँति बनी हुई यह नगरी पण्ढरपुर धन्य-धन्य है। जिसके तटपर भक्त पुण्डलिकजी विराजते हैं वह सरिता चन्द्रभागा धन्य-धन्य है! श्री गोविन्द भगवान् जिसमें क्रीडा करते हैं वह यहाँका वेणुनाद धन्य है! वनमाली जहाँ गौएँ चराते हैं वह यहाँका पद्मालय (गोपुर) धन्य है!

धन्य पंढरीचा वास देवा गाये भानुदास ॥

पण्ढरीनाथके निवासमें उनका भजन करके भानुदास धन्यताका अनुभव कर रहे हैं।

पंढरपुरका सुख बड़ा अलौकिक है। देवताओंको जिनका दर्शन दुर्लभ है वे श्री रुक्मिणिवल्लभ भगवान् यहाँ भक्तोंके लिए सुलभ होकर ईंटपर खड़े हैं।

वैष्णवांचा मेल करिती गदारोल। त्यामाजी गोपाल सप्रेमे नाचे ॥
जिकडे पाहे तिकड़े होत ब्रह्मानंद—

वैष्णवोंका मेला यहाँपर बड़ी धूम मचा रहा है, जिसमें गोपालजी प्रेमसे नाच रहे हैं। जहाँ देखें वहीं ब्रह्मानन्द छलक रहा है।

कैवल्यके सारसर्वस्व दीनदयालु विट्ठल भगवान् आज अट्ठाईस युग बीतनेपर भी पुण्डलिकजीके पीछे खड़े हैं। उन्हें कुछ भी शिथिलता नहीं मालूम पड़ती। भानुदास कहते हैं कि मेरा शरीर, मेरी वाणी तथा मन प्रभुके सगुण रूप-दर्शनमें लुभा गया है।

श्री विट्ठल भगवान्‌के वैलक्षण्यका वर्णन करते हैं और गाते हैं—

दांभिकांचा देव, प्रतिमा धातूची अज्ञान जनाची निष्ठा तेथे ॥
योगियांचा देव हातापायावीण भक्तांचा सगुण विटेवरी ॥
मानसिक पूजा कर्मठालागी केले कर्म भोगी निश्चयेसी ॥
आमुचा हा देव दोही विलक्षण निरालंब खूण आहे त्याची ॥
साक्षीचाहि साक्षी आनंद जिव्हाला भानुदास लीला गुज सांगे ॥

दम्भीजन किसी धातुकी प्रतिमाको भगवान् कहते हैं, और अज्ञानी लोग उसपर निष्ठा करते हैं। योगियोंके भगवान्‌को हाथ-पाँव नहीं होते,

लेकिन भक्तोंके भगवान् सगुण होकर इंटपर खड़े हैं। कर्मठ लोग भगवान्की मानसिक पूजा करते हैं, किये हुए कर्म उन्हें भोगने पड़ते हैं। हमारे (विट्ठल) भगवान् इनसे विलक्षण हैं। निरालम्बत्व यही उनकी विशेषता (निशानी) है। भगवान्का लीला-रहस्य बताते हुए श्री भानुदासजी कहते हैं कि वे साक्षियोंके भी साक्षी तथा आनन्द और प्रेमसे भरपूर हैं।

इन करुणाघन प्रभुको पानेके लिए नामजपके सिवा अन्य कोई सुलभ साधन नहीं हो सकता—

एका नामापरते साधन नाहीं नाहीं दुजे जाण ॥

लोग व्यर्थमें दौड़ दौड़कर संसारकी चोजें जोड़ते हैं। ये पामर यह नहीं जानते कि उनका जन्म-मृत्यु तथा आवागमन नाम-जपके सिवा किसी अन्यसाधनसे कटनेवाला नहीं। इतना ही नहीं बल्कि—

नामावांचूनी जे जे कर्म अवधा जाणा तो अधर्म।
भानुदास प्रेमेनाचे सदा नामघोष वाचे ॥

प्रत्येक कर्म, जिससे प्रभुका नाम नहीं जुड़ा है सच समझो कि वह अधर्म ही है। वाणीसे सदा नामघोष करनेवाले भानुदास तो प्रेममें मग्न हो नाच रहा है।

श्री विट्ठल नाम जपनेसे कलिकालका डर नहीं रहता। इस त्रि-अक्षर नाम - मन्त्रका जप अवश्य कीजिये।

तुमचे नाम गोड, नाम गोड पुरवी कोड जीवाचे ॥

प्रभु आपका नाम बहुत ही मधुर है। खूब-खूब मीठा है, जिससे हमारे जीवनकी तृप्ति होती है। इसके गायनसे महापातक भी भस्मीभूत हो जाते हैं और अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है।

नामाचा महिमा शुक सांगे परीक्षिति राजा जाणे अंगे।
जपताचि राम-कृष्ण नामें दहन होतो कर्माकर्मे ॥
नामे दया शांति क्षमा नामे शीतल शंकर उमा ॥

नाम-जपका माहात्म्य श्री शुक भगवान्ने बताया है और राजा परीक्षित इसे समझते हैं। 'राम-कृष्ण' नाम जपनेसे कर्म-अकर्म दग्ध होते हैं तथा दया, शान्ति, क्षमा-भावका उदय होता है। श्री शिव-भवानीको नामजपसे शान्ति (शीतलता) मिली है।

तारक तारक सोपे साचे विट्ठल-विट्ठल वदता वाचे।
जन्म मृत्युचे खडन पापा-तापाचे दहन ॥

वाणीसे 'विट्ठल-विट्ठल' जपना कितना आसान है। यह नाम

जीवोंको तारनेवाला, जन्म-मृत्युका खंडन करनेवाला पाप-ताप दग्ध करनेवाला है !

नाम - जपमें भरा हुआ अपार सामर्थ्य सन्त अपनी वाणीमें प्रकट कर रहे हैं—

कल्पना-अविद्या सांडोनिया गोडी रामनाम जोडी करी बापा।
येर ते मायिक नको पडू छंदा आठवी गोविंदा एक पणे ॥
द्वैताची ते वाढी छेदुनिया काढी नामाची तू गुढी उभवी सदा।
भानुदास म्हणे सांडोनि कल्पना चिंती तू चरणा विठोवाच्या ॥

कल्पना और अविद्यामें होनेवाली अपनी दिलचस्पी छोड़कर, हे मेरे बाप, तू रामनाम जोड़ ले। मायाके चक्करमें बिना फँसे तू एकमात्र गोविन्दका स्मरण कर। द्वैतका जंगल काटकर 'नाम'का झण्डा हमेशाके लिए फहरा दे। भानुदास सभी कल्पनाएँ छोड़कर श्री विट्ठल चरणोंका चिन्तन कर।

श्री पण्ढरीनाथके भक्ति-परक अभंगोंके साथ श्री भानुदासजीके अद्वैत-चिन्तन सम्बन्धी ७-८ अभंग मिलते हैं।

तुज पासाव सर्व परि तू नोहेसी ऐसे आपणासी बुझे बापा।
कर्तृत्व करुनि आहे तो निराला परब्रह्म निर्मला मल नाही ॥
देहाचिये ऐसी करुनि निराशा स्वस्वरूपी ठसा ठसलासी ॥
चिन्मयरूप मूल ॐकार बीज भानुदासी निज लाधले ते ॥

हे मेरे बाप, तू अपने स्वरूपको जानले कि तुझमें सब कुछ संसार है, लेकिन तू उसमें नहीं है। कर्तृत्व जाहिर करके अलग रहनेवाले निर्मल परब्रह्मको कोई कालिख नहीं लग सकती। देहके सम्बन्धमें अधिक आशा न रखकर तू अपने स्वरूपमें स्थिर हो जा। चिन्मयरूप ओंकार ही (संसारका) मूल बीज है और भानुदासने अपने स्वरूपमें उसे पहचाना है।

वाचा आणि अवस्था भोग अभिमानी पुरुषार्थ खाणी चार मुख्य ॥

वाणी, (देह तथा मनकी) अवस्था, भोग और (भोक्तृत्वको) अभिमान ये पुरुषार्थके चार रूप हैं। कीटों-भ्रमरोंमें तथा चल-अचल संसारमें महत्तत्त्व ठूँसकर व्याप्त हो गया है। अहम् और सोऽहम्की धौंकनी लगाकर इस संसारको कौन निःश्वसित कर रहा है? इसमें चेतना फूँकनेवाला जो है इसका मर्म जो गुरुदेवका पुत्र (सच्चा चेला) हो वही जान सकता है। एक संकल्पमात्रसे इस सृष्टिका विस्तार हुआ है भानुदासरूपी दीप प्रज्ज्वलित हुआ है।

षड्विकार, सप्तचक्र, अष्टधा प्रकृति, नव नाड़ियाँ, दस इन्द्रियाँ और मन इन सभीके प्रेरक और अन्तिम गति तुम स्वयं हो। विषय, इन्द्रियाँ, वासनाएँ तुझमें आती-जाती रहती हैं।

चिन्मयाचा दीप साक्षित्वासि आला भानुदास त्याला नाम झाले ॥

चिन्मय-प्रकाश जब साक्षिरूप बनता है तब उसे 'भानुदास' नाम मिलता है।

तुज पाहू जाता न ये कांहीं हाता असती तत्वतां साध्य नाहीं ॥

जब तुझे देखने चलते हैं तब कुछ हाथमें नहीं आता, क्योंकि तू तत्त्वत: अस्ति रूपमें है।

तू कभी 'साध्य' नहीं हो सकता। (हे जीव) तू जरा भीतर देखेगा तो तुझे मालूम पड़ेगा कि तू जिसे ढूँढ रहा है वह तुझमें ही है। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है ऐसा वेद बोलते हैं। तुझे सावधान रहना चाहिए और इसे कभी भूलना नहीं चाहिए। भूलसे मायामें फँसनेसे ही तुझे परिश्रम हो रहा है और चौरासी का चक्कर काटना पड़ता है। जीवन-का यह रहस्य तू ठीक जान ले। भानुदासका कहना है कि सद्गुरुकी शरण लेनेसे ही तेरा इप्सित पूरा हो सकता है।

दीन-दुःखियोंको देखकर सन्तोंकी करुणा हमेशा उमड़ आती है। सन्त भानुदासजी गाते हैं—

भांबावसी का रे माझे-माझे म्हणसी कोण हे, कोणासी कामा आले ?

व्यर्थं भ्रममें आकर तू मेरा-मेरा क्या कर रहा है? इस संसारमें क्या कोई किसीके काम आया है? जब-तक तुम्हारे पास कुछ रुपया-दौलत है तबतक ये तुझे 'मित्र, भाई' कहेंगे। जब तू धनहीन होगा तब 'दुर्दैवी' 'अभागा' कहकर गालियाँ देंगे।

भानुदास म्हणे ऐसे हे जन परि माझे-माझे जाण करिती वाया ॥

भानुदासजी कहते हैं कि लोगोंकी असली दशा तो यही है, लेकिन व्यर्थ-'मेरा मेरा' कहकर जीते हैं।

एक अभंगमें उन्होंने कहा है कि काम, क्रोध, लोभ और मद मनुष्यके अधःपतनके कारण (हेतु) होते हैं और परिणामत: अत्यन्त क्लेशदायी होते हैं—

भानुदास म्हणे सोडोनिया सोस होई रे उदास सर्वभावे ॥

भानुदासजी कहते हैं कि (संसार-में) व्यर्थकी चाह और अभिलाषा छोड़कर सर्वथा उपराम भावसे ही रहना उचित है।

मुमुक्षु साधकको उपदेश करते हुए सन्त कहते हैं, 'तू अगर योग, यज्ञ, जप, तप, अनुष्ठान इनके चक्करमें आयेगा तो तुझे व्यर्थ परिश्रम होगा, बल्कि अगर तू 'रामनाम' को स्वीकार करेगा तो इस सृष्टिमें धन्यता पायेगा—

भानुदास म्हणे रामनामे गोष्टी धन्य तू सृष्टीमाजी होई ॥

तू अगर आशा, तृष्णा और कल्पनाओंके पीछे दौड़ता रहेगा तो

तुझे सुख कभी नहीं प्राप्त होगा। भानुदासजी कहते हैं कि इन सभीको छोड़कर तू चक्रपाणि भगवान्‌को अपना सखा बना ले।

भानुदास म्हणे सर्व हे सोडूनि एक चक्रपाणि सखा करी ॥

इन महान् सन्तका श्री पंढरपुर धामके प्रति इतना अनुराग है कि बारम्बार पंढर-पुर-पंढरीका घोष करनेमें उन्हें बड़ा हर्ष होता है। यह एक अभंग देखिये—

नको फिरु रानी-वनी तू दुर्गघाट सोपी आहे वाट पंढरीचीं।
नको करू जप तप अनुष्ठान सोपी आहे जाण पंढरी हे ॥
नको जाऊ तीर्थी मनाच्या हव्यासे जाई तू उल्हासे पंढरीसी।
नको करु योग अष्टांग निर्वाण सोपे हे भुवन पंढरी जगीं ॥
भानुदास म्हणे सोपे वर्म राम कासयासि श्रम करिसी बहु ॥

—तुझे जगलमें, वनमें, घाटपर या किलेमें भटकनेकी कुछ आवश्यकता नहीं, इससे पंढरीका रास्ता बहुत ही सुगम है। जप, तप, अनुष्ठान करनेसे पंढरीनाथ बहुत आसान हैं। मनकी चाहसे तीर्थोंमें जानेके बदले, तू बड़े आनन्दसे पण्ढरपुरकी यात्रा कर ले। योग-अष्टांग साधन करनेसे पंढरीमें निवास करना कितना सुखकर है। भानुदासजी कहते हैं कि प्रभुका नाम राम—यही (सभी साधनोंका) वर्म कवच है, तू व्यर्थ-में ज्यादा परिश्रम क्यों कर रहा है? तू अपने मनको सचेत करके, सावधान होकर, यह द्वैतका भेद छोड़ दे। वाणीसे राम-कृष्ण-गोविन्दका जप कर ले तथा एकादशी व्रतका पालन, आषाढ और कार्तिक मासमें नियमसे पंढरपुरको जानेका निश्चय कर। भानुदासजीका कहना है कि इस सुलभ साधनका तू अवश्य उपयोग कर ले।

श्री भानुदासजी महाराजकी रचनामें श्रीकृष्ण-लीलाका बड़ा हृदय-ग्राही वर्णन मिलता है।

अवध्या सोडियेल्या मोटा आजिचा दहिकाला गोमटा।
ध्यारे ध्यारे दहिभात आम्हा देतो पंढरीनाथ ॥

हरेकने अपने-अपने कलेऊ खुले किये हैं। आजका दहीवड़ा बड़ा अपूर्व है। स्वयं पंढरीनाथ हमें, लीजिये-लीजिये पुकारकर दही-भात खिला रहे हैं।

भानुदास गोति गात प्रसाद देतो पंढरीनाथ ॥

इस लीलाका गीत गाते हुए भानुदासजीको स्वयं पंढरीनाथ प्रसाद दे रहे हैं।

सन्त भानुदासजीकी रचनामें दो हिन्दी अभंग मिलते हैं, उदा-हरणार्थ—

जमुना के तट धेनु चरावत राखत हैं गइयाँ।
मोहन मेरा सइयाँ ॥ध्रु०॥

मोरपत्र शिर छत्र सुहावे गोपी धरत बइयाँ।
भानुदास प्रभु भगत वत्सल करत छत्र-छइयाँ।।

इन अभंगोंके सिवा श्रीकृष्ण-बाललीलामें-से मामल भट्ट-आख्यान तथा श्री पंढरीनाथ और भक्त कूर्मदासकी मिलन-कथा सन्त भानुदासजी महाराजने विस्तारसे लिखी है।

श्री भानुदासजी महाराजके जीवनके साथ श्री पण्ढरीनाथ महाराजका एक महत्त्वपूर्ण आख्यान जुड़ गया है, जिसका निर्देश किये बिना सन्तकी यह जीवनी शायद पूरी नहीं हो सकती। आपके सभी चरितकारोंने इस आख्यानका रसपूर्ण वर्णन किया है। श्री भानुदासजी महाराजका नाम और यश महाराष्ट्रमें अधिक फैलानेवाली यह कथा संक्षेपतः इस तरह है—

पण्ढरपुरसे थोड़ी दूर कर्नाटकमें विद्यानगर नागरीमें राम नामक राजा थे। राजा अपनी कुलदेवीकी भारी उपासना करते थे, सेवा-पूजा करते थे।

एक दिन कार्यवशात् श्री पण्ढरीनाथका एक ब्राह्मण भक्त पंढरपुरसे विद्यानगर पहुँच गऔर उसकी राजासे मुलाकात हुई। राजा अपने कुलदेवताका अनन्य भक्त और अभिमानी था। उसने बात-बातमें अपनी देवीका माहात्म्य ब्राह्मणको सुनाया, और यह भी कहा कि उसकी आराध्या देवीके बराबर अन्य कोई देवता दुनियामें नहीं हो सकता।

ब्राह्मणको अपने पण्ढरीनाथका यह अपमान सहन नहीं हुआ। उसने पुराणोंमें गायी हुई श्री पण्ढरपुर नगरीकी अलौकिक और दिव्य छवि राजासे वर्णित की। पण्ढरपुरमें नक्षत्र कैसे चमाचम चमकते हैं, हीरा-मोतीसे सुशोभित बड़े-बड़े महल हैं और नीलमणियोंसे विभूषित वृक्ष हैं—आदि अनेक बातें राजाको सुनाकर ब्राह्मणने यह भी कहा कि 'राजन्, हमारे पण्ढरीनाथकी सेवाके लिए स्वर्गके देवता भी हमेशा पधारते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि आप जिस देवीकी तन-मन-धनसे पूजा करते हैं वह देवी हमारे पण्ढरीनाथके आँगनमें झाड़ू लगानेका काम करती है।'

ब्राह्मणका यह वचन सुनकर राजा क्रोधसे आगबबूला हो गये। पण्ढरपुरका प्रत्यक्ष दर्शन करनेके लिए उसने तुरन्त रथ जोड़ा और ब्राह्मणके साथ चल पड़ा।

रथ पण्ढरपुरके समीप पहुँचने लगा। ब्राह्मण अपने विश्वासके आधारपर बड़ी अधीरतासे पण्ढरीनाथ प्रभुकी प्रार्थना करने लगा—हे भगवन्, मैंने पुराणोंमें जैसा पढ़ा और महात्माओंसे जैसा सुना ठीक वही वर्णन आपका तथा आपके धामका किया है। अब मेरी लाज और प्राण आपके ही हाथोंमें हैं।

भगवान्‌की कृपा ऐसी हो गयी कि राजाको दूरसे चमचमाता तेजोमय श्री पण्ढरपुर दीखने लगा। जब भीतर आया तब बिल्कुल स्वर्णमयी और रत्न खचित स्वरूप दिखायी पड़ा जैसा ब्राह्मण भक्तने बताया था। और श्री पण्ढरीनाथ महाराजकी सेवा-पूजा भी उसी ढंगसे अलौकिक हो रही थी।

अब तो रामराजा श्री पण्ढरीनाथका भक्त हो गया और उन्हें अपनी विद्यानगरीमें पधारनेके लिए अनुरोध करने लगा। भक्त वत्सल प्रभुने राजाकी बात मान ली, शर्त इतनी ही थी कि जब राजासे कोई भक्तापराध होगा तो वे तुरन्त वहाँसे लौट आयेंगे।

राजा श्री पण्ढरीनाथको अपने नगरमें ले तो गया, लेकिन यहाँ पण्ढरपुर सूना हो गया। सभी सन्त-भक्त चिन्तित हो उठे। अन्तमें निर्णय यह हुआ कि सन्त भानुदासजी महाराज श्री पण्ढरीनाथको वापस पण्ढरपुर धाममें लायें।

श्री भानुदासजी महाराज विद्यानगर गये। राजाने पण्ढरीनाथको अपने निजी महलमें पूरा बन्दोबस्तसे रखा था। वह हमेशा भाव भक्तिसे भगवान्‌की पूजा-अर्चा करता था।

श्री भानुदासजी महाराज रातको महलमें जाकर भगवान्‌से एकान्तमें मिले। श्री पण्ढरीनाथ भगवान्‌ने भक्तको गले लगाया और अपना कीमती रत्नहार भक्त भानुदासजीको पहना दिया।

सुबह होनेपर राजाके सिपाहियोंने गलेमें रत्नहार देखकर श्री भानुदासजी-को गिरफ्तार किया और राजाने चोर समझकर उन्हें शूलीपर चढ़ानेकी आज्ञा दी। श्री भानुदासजी जब वधस्थानकी ओर चल पड़े तब भी वे श्री पण्ढरीनाथकी भक्तिमें बिल्कुल अडिग थे। उस समयका उनका गाया हुआ अभंग महाराष्ट्रमें विशेषतः श्री पण्ढरीनाथके वारकरी भक्तोंमें बहुत प्रिय है—

जैं आकाश येरपडो पाहे। ब्रह्मगोल भंगा जारो ॥
वडवानल त्रिभुवन खाये। तरी तुझीच वाट पाहेगा, विठोबा ॥
न करी आणिकांचा पांगिला। नामधारक तुझाचि अंकिला ॥
सात सागर एकवट होतो। हे विरनी जाय क्षीति ॥
पंचमहाभूते प्रलय पावती। परि भी तुझाचि सांगाती गा विठोबा ॥
भलतैसे वरपडो भारी नाम न संडो, न टलो निर्धारी।
जैसी पतिव्रता प्राणेश्वरी विनवी भानुदास, म्हणे आधारीगा, विठोबा ॥

'हे विठोबा (पण्ढरीनाथ) मेरे सिरपर आकाश क्यों न गिर पड़े, इस ब्रह्म-गोलकके टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो जांय, वडवानल त्रिभुवनोंका

ग्रास क्यों न कर ले तो भी आपकी ही राह देखता रहूँगा। मुझे अन्य किसीका गुलाम मत होने दो भगवन्! मैं आपका नाम धारक हूँ और आपकी ही आज्ञामें रहूँगा।

ये सात सागर एक क्यों न हो जायँ, यह धरती कण-कण बनकर बिखर क्यों न जाय, इन पंचमहाभूतोंमें प्रलय क्यों न हो जाय—तो भी मैं आपके ही साथ रहूँगा, भगवन्।

कितने भी अकल्पित तथा भारी संकट (मुझपर) आयें तो भी आपका नाम नहीं छूटेगा और न मैं अपने निश्चयसे हटूँगा। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्राणेश्वरका आधार लेती है उसी तरह मुझे आपका ही आधार है पण्ढरीनाथ।'

सन्त भानुदासजीकी यह निष्ठा और निर्भयता देखकर शूली ही पिघल गयी। राजा सन्तके चरणोंमें गिर पड़ा। राजाके हाथ भक्तापराध होनेसे श्री पण्ढरीनाथ भी भानुदासजीके साथ अपने प्रिय पण्ढरपुरमें लौट आये।

लेकिन भगवान्का विग्रह तो बड़ा था और भक्त भानु दुर्बल थे। इसलिए पण्ढरीनाथ बिल्कुल छोटे रूपमें हो गये। श्री भानुदासजीकी झोली-में बैठकर यात्रा शुरू की। रास्तेमें जब पद्मालय (गोपालपुर) पहुँचे तब पण्ढरीनाथ भगवान्ने अपना नित्यका विग्रह धारण किया और सभी सन्तोंने तथा भक्तोंने प्रभुकी शोभा-यात्रा निकालकर पण्ढरपुरमें आपकी प्रतिष्ठा की।

इस मधुर आख्यानके सम्बन्धमें रचे हुए दो-तीन अभंगोंको छोड़कर श्रीभानुदासजीके बारेमें कुछ अन्यत्र लिखा नहीं मिलता। सन्त भानुदासजी महाराज अपने पौत्र (सन्त एकनाथ-जी महाराजके पिता) श्री सूर्यना-यणजीके जन्म तक जीवित थे, यह निर्देश श्री एकनाथजीकी रचनामें आया है। सन्त भानुदासजीकी आयु ६९-७० सालकी होगी ऐसा इतिहा-सज्ञोंका कहना है।

श्री सन्त एकनाथजी महाराजने 'एकनाथी भागवत'के पहले अध्यायमें अपने प्रपितामहका जो पावन स्मरण किया है उसीसे इस गाथाका उप-संहार करना उचित होगा—

वंदू भानुदास आता। जो का पितामहाचा पिता॥
ज्याचेनि वंश भगवंता। झाला सर्वथा प्रियकर॥
जेणे बालपणि आकलिला भानु। स्वये झाला चिद्भानु॥
जितोनि सानाभिमानु। भगवत्पावनु स्वयं झाला॥
जायचि पदबंध प्राप्ति। पाहो आली श्रीविट्ठलमूर्ति॥
कानींची कुंडले जगा ज्योति। करिता रानी देखिला॥
तया भानुदासाचा 'चक्रपाणि'। तयाचाहि सुत सुलक्षणी॥

तयासी 'सूर्य' नाम ठेवोनि । निजि निज दोऊनि भानुदास ठेला ॥

[श्री एकनाथी भागवत अध्याय १.१३१-१३४]

श्री सन्त एकनाथजी कहते हैं—

"मेरे पितामहके पिताजी—श्री भानुदासजी महाराजकी मैं वन्दना करता हूँ। उन्हींकी कृपासे हमारा वंश भगवान्‌का प्रेम-भाजन हुआ। बचपनमें उन्होंने भानुको प्राप्त किया (श्रीसूर्यनारायणकी उपासना की) और बादमें स्वयं चिद्भानु बन गये। अपने मान तथा अभिमानपर उन्होंने विजय पायी थी। उनकी भक्तिसे भावुकोंको श्रीविट्ठल मूर्ति देखनेको मिली। उन्होंने इस जगत्‌में (ज्ञान-भक्तिका) प्रकाश फैलाया। श्रीभानुदासजी महाराजके पुत्र श्री चक्रपाणि हुए। श्रीचक्रपाणिके सुलक्षणी पुत्रको 'सूर्य' नाम प्रदान करके श्रीभानुदासजी महाराज आत्मरूपमें स्थित हो गये।"

श्री पण्ढरीनाथ महाराजकी भक्तिसे सराबोर सन्त श्री भानुदासजीका जीवन भावुकोंके लिए चिरंतन वरदान है। उन सन्तश्री चरणोंमें हमारे लाखों प्रणाम। उनके अनुग्रहसे हमारे जीवनमें श्रद्धा और भक्ति बढ़ती रहे।

पत्रोत्तर

प्रिय महानुभाव,

सप्रेम नारायण स्मरण !

आपकी मनमें नारायण स्वामीके साक्षात्कारकी तीव्र आकांक्षा है यह जानकर हर्ष हुआ। आज नारायणको चाहनेवाले कितने हैं? जहाँतक अपने साधनका प्रश्न है, आप गम्भीरतासे विचार करिये, क्या आपके मनमें संसारके साक्षात्कारकी आकांक्षा नहीं है? ईश्वरका दर्शन तब होता है जब उसके अतिरिक्त किसी दूसरेके दर्शनकी उत्कण्ठा-व्याकुलता या लालसा नहीं रहती। आप अपने हृदयको टटोलिये।

जहाँतक नारायणके दर्शनका प्रश्न है, वह उनकी कृपासे ही होता है। कृपा किसीपर भी हो सकती है। दीन-हीन, पतित-जनोंपर भी उनकी कृपा बरस पड़ती है। उसके लिए किसी शर्तका पालन नहीं करना पड़ता। आप केवल उसकी प्रतीक्षा कीजिये। अपने हृदयकी आँखें बिछा दीजिए। कातर-भावसे प्रार्थना कीजिये। वह आपको मिलेगी। इसके लिए सरलतम उपाय यह है कि नारायण-नारायणकी रट लगा दी जाये, चलते-फिरते, सोते-जागते। नाम रूपको आकृष्ट कर देता है। कृपाका पात्र बना देता है। जिन दुर्गुणोंसे आप बचना चाहते हैं और जिन सद्गुणोंको प्राप्त करना चाहते हैं, उनको और दुर्गुणी-सद्गुणीको मत देखिये। नारायणको देखिये। जो दुर्गुणको देखता है, उसका हृदय गुण-दोषसे भर जाता है। दूसरोंमें देखोगे तो राग-द्वेष होगा। अपनेमें देखोगे तो अभिमान और हीनताका भाव उदय होगा। इसलिए, गुण-द्वेषकी दृष्टि छोड़कर नारायणकी लीला देखनी चाहिए। आप मनुष्य नहीं हैं, नारायणके अंश हैं और वह देव-मानव, मनुष्य-पशु, कीट-पतंग और कण-कणमें भरपूर है।

यदि आपमें दुर्गुणोंको छोड़ देने और सद्गुणोंको ग्रहण करनेका विशेष आग्रह हो तो नारायणसे ही प्रार्थना कीजिये कि हमारे यह दुर्गुण दूर हों और सद्गुणोंकी प्राप्ति हो। क्या आप नारायणकी प्रसन्नताके लिए तुच्छ दुर्गुणोंको नहीं छोड़ सकते? क्या आप उनकी

प्रसन्नताके लिए सद्‌गुणों-सद्भावोंके द्वारा अपने हृदयका शृङ्गार नहीं कर सकते ?

आप नारायणसे प्रार्थना कीजिये 'हृदयको शुद्ध करना मेरे वशकी बात नहीं है। आप स्वयं जैसा आपको पसन्द हो, वैसा बना लीजिये।' अपने जीवन व हृदयको अपने सर्वस्व ईश्वरके प्रति समर्पण कर देना सबसे बड़ा सद्‌गुण है। आप नारायण नामका आश्रय लीजिये।

शेष भगवत्कृपा।

—अखण्डानन्द सरस्वती

प्रि. य. ब. क्षीरसागर,

श्री. साधना और श्री शरद पवार के मंगलमय विवाह के उपलक्ष्यमें मेरे शत शत शुभाशीर्वाद हैं।

वैदिक धर्मके अनुसार विवाह दो अन्तःकरणोंमें आत्मीयताका संस्कार उत्पन्न करनेकी एक विधि है। संस्कार जब धार्मिक विधिसे अन्तःकरणमें डाला जाता है, तब वह जन्म-जन्मान्तरके लिए स्थिर हो जाता है। लौकिक दृष्टिसे जो विवाह होते हैं वे लौकिक सम्बन्ध बिगड़ जानेपर टूट जाते हैं। परंतु वैदिक संस्कार लौकिक सम्बन्ध बिगड़ जानेपर भी टूटते नहीं हैं बने रहते हैं।

वैदिक मंत्रोंमें कहा गया है, कि वर नारायण है, कन्या लक्ष्मी है। दम्पत्तीके हृदयमें गुप्त रूपसे जो लक्ष्मी–नारायण रहते हैं, उनका दिव्य सम्बन्ध ही नित्य है। उसीको जागृत करनेके लिए विवाहके मंत्र पढ़े जाते हैं और सम्बन्धमें भी नित्यता आ जाती है।

मंत्र कहता है, कि वर सामवेदका संगीत है, वधू ऋग्वेदकी ऋचा-मयी कविता है। विवाह अर्थात् संगीत और कविताका संयोग। इससे अपूर्व रसकी उत्पत्ति होती है।

वर कहता है, मैं विशाल आकाश हूँ और तुम धारण करनेवाली स्नेहमयी पृथिवी हो! जैसे पृथिवी आकाशके गोदमें हमेशा रहती है, वैसे तुम हमेशा मेरी गोदमें स्नेहमयी गन्धमयी होकर निवास करो।

वर का कहना है कि आओ हम दोनों मिलकर संयुक्त जिम्मेवारीका बोझ अपने ऊपर उठावें, एक उद्देश्यके प्राप्तिके लिए साथ-साथ परिश्रम करें। हमारी इस लोकमें सुख–वृद्धि हो, कर्मकी शुद्धिसे परलोक बने। हमारी वंश-परम्पराका उच्छेद न हो। हम लोगोंका यह प्रेम परस्पर दिनोंदिन बढ़ता रहे और इस बातका पता भी न चले कि बुढ़ापा कब आया और कब चला गया।

—अखण्डानन्द सरस्वती

प्रिय महोदय,

१०-७-७७

सप्रेम नारायणस्मरण !

१. साधन जितने भी होते हैं, अपने मनको वशमें करनेके लिए। हम जो भी करें, बोलें, सोचें, अपने मनको वशमें रखकर। अनजानमें, अज्ञानदशामें, मनमें जो मान लिया है या पकड़ लिया है, मनको यदि उसीमें रहने देंगे, तो फिर वह अपने वशमें कभी भी नहीं होगा। बचपनका स्वभाव छोड़िए। गुरुदेवकी आज्ञाके अनुसार अपने मनको चलाइये। यदि आप मनकी पकड़पर अमल करेंगे, वह आपके काबूमें नहीं रहेगा और कभी गलत दिशामें भी जायेगा। मनको आज्ञाकारी बनाइए। शासनानुसारी बनाइए, वासनानुसारी नहीं।

२. जो सब आकारोंमें एक रहता है, वह तत्त्व होता है। रंग-रौगन और आकार अलग-अलग होनेपर भी सोनेमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर काले-गोरे, विष्णु-शिवमें और स्त्री, हाथी, देवी, गणेशमें एक ही रहता है। यदि ईश्वर केवल एक आकारमें ही रहे, तो वह मनुष्यके समान ही होगा और संसारी गुणोंसे अर्थात् रूप-रस-गन्ध-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व आदिसे आबद्ध ही रहेगा। अतएव आप सभी रूपोंमें अपने इष्टदेव ईश्वरको नमन कर सकते हैं। क्या आपका इष्टदेव परमेश्वर नहीं है? भागवतमें कहा गया है—कुत्ते, चाण्डाल, बैल और गधेको भी ईश्वर समझकर नमस्कार करना चाहिए।

३. मनको एकाग्र करना हो तो रा·····म लम्बा करके उच्चारण करना ठीक है। इससे श्वास और मनकी गति कम होती है। यदि अधिक-से-अधिक नाम उच्चारण करनेमें रुचि हो तो एक श्वासमें अनेक नाम लेना भी उत्तम है। पहलेमें अभ्यासकी प्रधानता है और दूसरेमें श्रद्धा-विश्वास और स्वादकी। श्री विष्णु दिगम्बरजी सात नामोंका एक साथ गान करते थे—राम राम राम राम राम राम राम।

४. वेदान्त-विचार आपके लिए अनुकूल नहीं है। जिसकी कुछ करने-पानेमें रुचि है, उसको साधन ही करना चाहिए। बौद्ध-व्यायाम करनेकी आवश्यकता नहीं है।

—अखण्डानन्द सरस्वती

परम प्रिय बेटी, २५-६-७७

सप्रेम शुभाशीर्वाद !

तुम्हारे ससुरजीके रोग और चिकित्साका समाचार मिलता रहता है। आशा है, अब उनका स्वास्थ्य ठीक होगा। तुम्हारी सास भी स्वस्थ प्रसन्न होंगी।

चिरंजीवि चन्द्रप्रकाश बहुत समझदार और होशियार है। वह तुमसे बहुत प्रेम करता है। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे बारेमें उसका कितना अच्छा ख्याल है। पति-पत्नीमें कभी-कभी दिनमें लड़ाई हो जाती है तो रातमें प्रेम बढ़ जाता है। बासी प्रेमको ताजा करनेके लिए थोड़ी-सी आँच भी देनी पड़ती है। तुम अपनी ओरसे सास, ससुर, पति, जेठानी, बच्चे सबका पूरा ध्यान रखा करो और उनकी सेवा किया करो। तुम्हारा प्रेम और सेवा सबके मनको तुम्हारी ओर खींच लेगा।

भगवान्‌पर विश्वास रखना चाहिए। तुरन्त हमारी प्रार्थना सुन ली जाये, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। तुम्हारी प्रार्थना अवश्य सुनी जायेगी, भले कुछ देर हो। मैं अपनी सद्भावना और आशीर्वादसे तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। निराश मत होओ। घबड़ाओ मत। भगवान्‌के सामने रोनेमें कोई हानि नहीं है। तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। शेष भगवत्कृपा।

—अखण्डानन्द सरस्वती

प्रिय........, २९-६-७७

जय श्रीकृष्ण !

तुम्हारे पत्र मिले। ईश्वरके प्रेम प्राप्ति भावनामें जीवकी कोई भी वस्तु बाधक नहीं हो सकती। यहाँतक कि अभिमान भी। भगवान् अभिमानके साथ खेलते हैं। कभी हरा देते हैं, कभी जिता देते हैं। वे कृपा हैं। वे प्रेम हैं। उनको अभिमान भी प्यारा लगता है। स्फुरणा होना या न होना, यह आँखमिचौनीका खेल है। न जीवकी साधनासे उन्नति होती है और न अभिमानसे अवनति। वे अपनी हर लीलासे यही इंगित करते हैं कि तुम नहीं, मैं हूँ। तुम्हारी साधना नहीं, मेरी कृपा है। तुम्हारे फूल नहीं, मेरी कोमलताका विकास। वे अन्धकारमें भी हैं। स्मृतिमें भी हैं। जब हम उन्हें याद नहीं कर पाते, तब भी वे हमें याद करते हैं। हम उन्हें देख नहीं पाते, वे निरन्तर देखते

रहते हैं। हम अपनी गोदसे उन्हें उतार देते हैं, तब विशेष कृपा, करके वे हमें अपनी गोदमें बैठा लेते हैं। उनकी साँसमें हम साँस लेते हैं। उनके हृदयमें हमारा निवास है। देखो! उनकी आँखकी पुतलीमें तुम्हारी झलक है। तुम अपनी आँखोंमें उन्हें नहीं देख सकती हो, अपनेको उनकी आँखोंमें देखो। वे तुम्हारे बिना रह नहीं सकते। उनका जीवन-प्राण तुम्हारे जीवन-प्राणसे ओत-प्रोत है। वे तुमसे अलग रहकर किसके प्यारे होंगे? किसके जीवनधन होंगे? किसके स्वामी होंगे? भक्तके बिना भगवान् क्या? प्रजाके बिना राजा क्या? तुम देखो, मत देखो, मैं देख रहा हूँ। मेरी जीभ या कलम मौन हो सकती है, परन्तु मेरी अन्तरात्मा मौन नहीं है। मैं प्रकाश और प्रेमका उद्गम हूँ। और मैं क्षण-क्षण देख रहा हूँ। जिसे तुम शून्यता कहती हो, वह भी परमात्माका एक रूप है। गौरसे देखो। शून्यतामें भी वही नटखट जैसे चुप्पी लगाकर छिप गया हो। वह है, वह है, वह निश्चय ही है।

शेष भगवत्कृपा!

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

करुण-निवेदन

(२)

आसरा तुम्हारा छोड़ दूसरों का ताकना तो,
निबल मनुष्यकी प्रबलतम भूल है।
तुम जो कृपालु तो कृपालु जग-जीवन है,
तुम यदि रुष्ट, सारा जग दुखःमूल है॥
नियति, प्रकृति, अर्थ—सब बन जाते व्यर्थ,
तुम प्रतिकूल, सारा जग प्रतिकूल है।
भाग्य भी तुम्हारे इंगितों जा बनता है दास,
तुम अनुकूल, विश्वभर अनुकूल है॥

—डॉ० जगदीश वाजपेयी

अपने खोलसे बाहर निकलिए

श्री फ़रहत क़मर, एम० ए०

बटला हाउस, नई दिल्ली—११००२५

शिकायत करना कुछ लोगोंका स्वभाव बन जाता है। अमरीकामें चुनाव हो या जापानमें छात्र-विद्रोह, दिल्लीकी बस सर्विस हो या कलकत्तेकी ट्रामें—वे हर बातमें शिकायतका पहलू निकाल लेते हैं। जीवनके उज्ज्वल पहलू उनको नजर नहीं आते—केवल अन्धेरा दिखाई देता है। उनको आधा गिलास पानी दिखाइए, वे कहेंगे 'आधा गिलास खाली है।' भरे हुए आधे गिलासपर वे ध्यान नहीं देंगे।

क्या वास्तवमें ऐसे व्यक्तियोंका मन दूसरोंसे सहानुभूति तथा विश्व-प्रेमकी भावनाओंसे भरा होता है?

जी नहीं, उनको सारी दुनियासे शिकायत बनी रहती है और वह केवल इसलिए कि उनको अपने आपसे शिकायत है। बात कुछ अजीब-सी लगती है। परन्तु है सत्य!

ऐसे व्यक्ति वास्तवमें अपने खोल-के अन्दर बन्द रहते हैं। जीवनकी बहती धारासे दूर, किनारेपर खड़े, वे अपनी आत्माके द्वार सदा बन्द रखते हैं—एक घोंघेके समान! मुँहसे चाहे वे कुछ कहें परन्तु उनके उप-चेतनमें एक भावना जड़ जमाये रहती है कि वे विश्वभरमें महानतम हैं। इसीलिए उनको सबसे शिकायत बनी रहती है और इसी कारणसे उनकी आत्मा इस विस्तृत आत्मासे जुड़ नहीं पाती, जिसका प्रवाह हर व्यक्तिमें अपार असीम हो सकता है।

हर व्यक्तिके मानसिक ताने-बानेमें दूसरोंका प्रेम पानेकी एक इच्छा बुनी रहती है। बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दूसरोंके प्रेम या घृणा, आलोचना या प्रशंसाकी परवाह नहीं करते। हर व्यक्तिको दूसरोंके ध्यान, दूसरोंकी सहानुभूति, स्नेह तथा प्रेमकी आवश्यकता होती है और साधारणतः लोगोंको यही शिकायत रहती है कि दूसरे उनकी ओर ध्यान नहीं देते।

परन्तु वे एक मौलिक सत्यको भूल जाते हैं!

यह दुनिया "इस हाथ दे उस हाथ ले—" के नियमपर चलती है। आप दूसरोंकी ओर कितना ध्यान देते हैं। आप अपनी "मैं" के घातक दायरेसे कितना बाहर निकल पाते हैं ?

दूसरोंकी ओर ध्यान देना वास्तवमें एक कला है परन्तु इस कलाके सीखनेकी ओर अधिकतर व्यक्ति ध्यान नहीं देते। भगवान्ने कन्धोंके ऊपर सिर इस विधिसे बनाया है कि दूसरोंको नमस्कार करनेके लिए सुगमतासे झुक जाता है। ओठ आसानीसे मुस्कान बिखेर सकते हैं। फिर भी लोग अपना मस्तक ऊँचा ही रखते हैं और अपने ओठोंको बन्द रखते हैं।

यदि आप अपने पड़ोसीके दुःख-सुखमें काम नहीं आते, यदि आप अपने बीमार मित्रको देखने नहीं जाते, यदि आप किसीको मुस्कान तथा मधुर वाणीका वेमूल्य उपहार भी नहीं देते तो दूसरे आपकी ओर ध्यान क्यों दें ?

तब शिकायत क्यों ?

जीवनकी मूल सत्ताओंको समझे विना न आप किसीको प्रसन्नता प्रदान कर सकते हैं न स्वयं प्रसन्न रह सकते हैं। वे मूल सत्ताएँ क्या हैं ?

१. सभी मनुष्य समान हैं और सबको जीनेका समान अधिकार है।

२. दूसरोंकी इच्छाएँ भी आपकी इच्छाओंकी भाँति पूरी होनी चाहिए।

३. जिस प्रकार आप अपनी गलतियोंको क्षमा कर लेते हैं इसी प्रकार दूसरोंकी गलतियाँ भी क्षम्य है।

४. यदि किसीका हाथ देनेके लिए नहीं बढ़ता तो उसको कुछ मिलनेकी सम्भावना भी कम रहती है।

५. यदि आपको अपना महत्त्व तथा आत्मसम्मान प्यारा है, तो दूसरे भी ऐसी ही भावना रखते हैं।

शेक्सपियरने कहा था 'यह संसार एक मंच है और हर व्यक्ति एक अभिनेता।' यह सच ही है बल्कि इससे भी आगे हर अभिनेता मंचपर पड़नेवाले प्रकाशके दायरे (फोकस) में आना चाहता है ताकि दर्शक गणको प्रभावित कर सके।

यह केवल आपका ही अधिकार नहीं कि आप ही प्रकाशके दायरेमें रहें। संगतिमें बैठे हैं तो केवल आपकी ही बात सब क्यों सुनें ? आप अपने विचारोंको ही उच्च और दूसरों-के विचारोंको तुच्छ क्यों समझें ?

जीवन मंचपर पड़नेवाले प्रकाशके फोकसमें दूसरोंको भी आने दीजिए।

व्यक्तिगत उदाहरणके लिए क्षमा-याचनाके साथ मैं यह कहूँगा कि जब मैं अपने कस्बे (जो कस्बेसे ज्यादा एक बड़ा गाँव कहा जाना चाहिए) मैं जाता हूँ तो वहाँके सीधे-सादे व्यक्तियोंसे रातके कपड़ोंमें ही मिल लेता हूँ, कुर्ता-पाजामा पहनकर ही घूमता हूँ। पुराने साथियों मित्रोंके लिए पुस्तकें, पत्रिकाएँ, कैलेन्डर,

डायरियाँ तथा अन्य छोटे-छोटे उपहार ले जाता हूँ, उनसे उनकी भाषामें ही बात करता हूँ। हर मास मेरे पास १५-२० पत्रिकाएँ आती हैं उनको रद्दीमें न बेचकर पड़ोसियों, मित्रों, सम्बन्धियों आदिको दे देता हूँ। उनको आभास बना रहता है कि मैं उनका ध्यान रखता हूँ। वे प्रसन्न होते हैं—और उनके स्नेह और प्रसन्नतासे मुझे भी अपार प्रसन्नता मिलती है। थोड़ा देकर मैं बहुत पा लेता हूँ।

आप भी ऐसा कर सकते हैं!

कौन कहता है प्रसन्नता मोल नहीं मिलती। हाँ, इसे खरीदनेके लिए दया, स्नेह तथा सहानुभूतिके छोटे सिक्कोंकी जरूरत पड़ती है।

आप जरा-सा ध्यान देकर, प्रशंसा तथा प्रोत्साहनके दो शब्द कहकर किसी उभरते हुए खिलाड़ी या कलाकारको सफलताकी पराकाष्ठाकी ओर बढ़ा सकते हैं, रोगीको स्वास्थ्यकी राहपर डाल सकते हैं और किसीकी आशाका टूटा हुआ तार जोड़ सकते हैं।

और फिर आपका इन बातोंपर कुछ खर्च नहीं होता!

तब आप अपने अतिरिक्त दूसरोंकी ओर क्यों ध्यान नहीं देते? इस संसारको सुखी बनानेमें सहायता क्यों नहीं देते? जरा प्रयत्न तो कीजिए, फिर देखिए कि प्रेम, प्रसन्नता, दया और शिष्टाचार आदि किसी भी छूतके रोगसे ज्यादा तेज फैलते हैं—एकसे दूसरेको उड़कर लगते हैं।

इस सम्बन्धमें आपको इस बातके लिए तैयार रहना पड़ेगा कि आप किसीके साथ सहानुभूति करें परन्तु आपको बुराई मिले। यह साधारण-सी बात है परन्तु याद रखें कि अन्ततः जीत अच्छाईकी ही होती है और वह जीत होती है स्थायी।

तो पकड़िये उस मकड़ीको जो आपके मनके किसी कोनेमें बैठी अहं और स्वार्थके जाले बुनकर आपके व्यक्तित्वपर लपेट रही है।

उस मकड़ीको मार डालिये!

अपने खोलसे बाहर निकलकर हरेकसे मिलिए और फिर देखिए जीवन कितना सुन्दर कितना रंगीन है।

●

होम्योपैथी क्या है ?

डॉ० श्री लक्ष्मीनारायण मंगल

होम्योपैथीमें शरीर-रचनाविज्ञान, शरीर-क्रियाविज्ञान तथा अन्य चिकित्सा ग्रन्थ आधुनिक चिकित्साके अनुसार ही हैं; अन्तर है निदान-प्रणालीमें एवं लक्षणोंके अनुसार चिकित्सा क्रममें ।

रोगसे पहले रोगीको प्रमुखता दें

यह होम्योपैथिक विशेषता है । शरीरमें एक प्राणमय जीवनी-शक्तिको प्रमुखता एक विदेशी विज्ञान होकर भी होम्योपैथिकने आजसे दो सौ पचास वर्ष पूर्व दो । इसो जीवनी-शक्तिमें अवरोध या विकृतिसे मानसिक एवं शारीरिक लक्षण एवं चिह्न शरीरमें प्रकट होते हैं । इन्हीं लक्षणोंके सूक्ष्म अध्ययनसे होम्योपैथिक चिकित्सक उस औषधिको खोजता है जिसको स्थूलरूपमें सेवन करानेसे "वैसे ही" लक्षण तथा चिह्न शरीरमें प्रकट होते हैं । इन्हीं लक्षणोंके सूक्ष्म तथा विवेकपूर्ण अध्ययनसे होम्योपैथिक चिकित्सक उस औषधिको खोजता है जिसको स्थूलरूपमें सेवन करानेसे ठीक उसी प्रकारके लक्षण तथा चिह्न शरीरमें प्रकट हो गये थे, इस कार्यमें "रिपर्टराइजेशन" का भी विशेष महत्त्व रहता है । हाँ, एक प्रमुख बात और है कि होम्योपैथिक औषधि किसी भी इन्ट्रावीनस इन्जेक्शनसे भी तीव्र गतिसे तुरन्त आराम करती है जबकि आम गलतफहमी यह है कि होम्योपैथिक औषधि धीरे-धीरे लाभ करती चलती है ।

यहाँ यह लिखना समीचीन होगा कि होम्योपैथिक पद्धतिमें सामान्यतः ९९% असाध्य एवं सर्जिकल भीषण रोगोंके लिए प्रभावशाली औषधियाँ हैं । "कैंसर" जैसा महानतम असाध्य कहा जानेवाला रोगतक एक अर्सेसे इस विज्ञानके वशमें है । अज्ञानताके वशीभूत रोगी लाभ न उठा पाये तो बात और है ।

केवल निजी स्तरपर होम्योपैथिक चिकित्सक इस कार्यको इससे और ऊँचा उठा भी कहाँतक सकते हैं ? एक अन्य तथ्य कि होम्योपैथिक क्लीनिकपर रोग अपने बिगड़े हुए तथा बढ़े हुए उस भीमकाय रूपमें पहुँचता है जब सब मना कर देते हैं, तब भी उसे जो लाभ होता

है वह अकल्पनीय ही कहा जा सकता है।

होम्योपैथिक औषधियोंका कत्तई सी अन्यथा दुष्प्रभाव कभी नहीं होता, ये औषधियाँ मादक औषधियोंकी आदत तक छुड़ा देती हैं। मानसिक एवं यौनरोगोंकी जितनी सबल चिकित्सा होम्योपैथिकमें है, अन्य कहीं अनुभवमें अभी नहीं आती।

निश्चय ही एक उच्चतम स्थिति

होम्योपैथिक चिकित्सक जब अपनी औषधियोंका निर्धारित रूपमें उपयुक्त वैज्ञानिक प्रयोग करता है तब ये कठिनतम रोगों एवं सर्जिकल केसेज तकका उपचार कम-से-कम समयमें तथा बिना किसी दुष्प्रभावके करती है, पीड़ित मानवताको इससे अधिक और क्या इस चिकित्सापद्धतिसे चाहिए ?

होम्योपैथिकका एक बड़ा आर्थिक लाभ यह है कि इसकी औषधियाँ अपेक्षाकृत सस्ती ही होती हैं तथा वे औषधिजन्य अन्य रोगोंको विकसितकर हमारे शरीरपर थोपती नहीं—जो आजकी एक ज्वलन्त समस्या है, अन्य औषधियाँ अधिक कीमती तो होती ही हैं और ज्यादा दिन चलते रहनेपर ये निष्प्रभावी होती जाती हैं।

होम्योपैथिकमें चारित्रिक, मानसिक तथा शारीरिक रोगोंकी चिकित्सा होती है। काम-क्रोध-लोभ-दंभ-भय ईर्ष्या आदि मनोभ्रंशोंके आरोग्य हेतु एक सुन्दर व्यवस्था एवं चिकित्सा है।

अन्य कुछ विशेषताएँ :

१. औषधियोंका प्रभाव स्थायी रहता है।

२. औषधियाँ वर्षोंतक खराब नहीं होतीं।

३. रोगोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती तथा रोगोंको बहुसंख्यक या जटिल नहीं बनाती।

४, हिंसात्मक उपायोंको उपचार-प्रक्रियामें काम न लानेवाली यह एक अहिंसाप्रिय चिकित्सा प्रणाली है।

५. अधिक गुण देकर यह प्रणाली एक पीड़ितका आर्थिक व्यय अधिक सीमित करती है।

६. वंश - परम्परागत रोगोंका समूल नाश होता है।

७. मृत्युका प्रतिशत अपेक्षाकृत अल्पातिअल्प आता है।

●

विश्वकी सबसे विलक्षण रचना : मक्खी

श्री सुरेन्द्र श्रीवास्तव

कभी मक्खीको गौरसे देखा है आपने इतनी-सी जान होते हुए भी कितनी विचित्रताएँ भरी पड़ी हैं उसमें। कभी आप फुरसतमें बैठे हो तो एक साधारण मक्खीकी गति-विधियोंको ध्यानपूर्वक देखिए, आपको बड़ी ही विचित्र कलाबाजियां, भाग-दौड़ देखनेको मिलेगी। यदि आपकी रुचि वायुगति विज्ञानमें है तो आपको यह देखकर बहुत आश्चर्य होगा कि किस तरह एक साधारण मक्खी हवा-में कितने अद्भुत प्रदर्शन करती है।

प्रत्येक मक्खीकी शरीर-रचनामें कल्पना एवं बनावटका जो अद्भुत चमत्कारिक मेल दृष्टिगोचर होता है, उसे देखकर दंग रह जाना स्वाभाविक है। कभी-कभी तो मन सोचने लगता हैं कि ईश्वरने इस मामूली-सी मक्खी-का निर्माण करनेमें इतनी मेहनत क्यों की ?

तुच्छ और महत्त्वहीन समझी जानेवाली यह मक्खी अपने सिरसे लेकर पाँवतक विचित्रताओंका सम्मिश्रण है। इसके नेत्र एक जटिल पच्चीकारीके अद्भुत नमूने हैं। इसके पाँवोंमें चिपकनेवाली गद्दी रहती है। जो उसके बैठनेके स्थानसे चिपकी रहती है और उस स्थानसे भोजनको सोखकर अन्दरकी नलिकाओंमें पहुँचाती है।

दुनियामें मक्खियोंकी लगभग ८०,००० किस्में पायी जाती हैं। ये दुनियाके हर कोने, हर स्थानपर मिल सकती हैं। उन्हें १५ हजार फुटकी गहराईमें भी देखा गया है और गहरी खानोंके अंधेरेमें भी। शोधके आधारपर वैज्ञानिकोंने निष्कर्ष निकाला है कि पृथिवीके जन्मकालसे ही मक्खियाँ पृथिवीके स्थायी निवासियोंमें-से हैं। पुरानी बाइबिलमें इनका उल्लेख आया है। साथ ही ईसाके जन्मसे दो हजार वर्ष पूर्व मक्खियोंके एक मोरछलका जिक्र आता है। अति प्राचीन कालमें मक्खियोंके स्वामी प्रभुकी पूजा की जाती थी।

मक्खियोंके शरीरकी लम्बाई १/४ इञ्चसे लेकर तीन इञ्चतक होती है। तीन इञ्च लम्बाईवाली

मक्खियाँ बेनेजुएलामें पायी जाती हैं। मक्खीके दो पंख होते हैं—एक कार्यशील रहता है और दूसरेसे वह अपना सन्तुलन कायम रखती हैं। पंख मक्खियोंकी बोध-इन्द्रियोंका काम भी देते हैं। इन पंखोंकी रचना बहुत बारीक, ग्रथित और तन्तुमय होती है। बिना इसकी सहायताके मक्खी उड़ ही नहीं सकती। मक्खीका निष्क्रिय पंख कमानकी तरह हिचकोले खाता रहता है। यह जिरास्कोपका काम भी करता है। जब मक्खी उड़ती व मुड़ती है तो पंख अपना काम बराबर करते रहते हैं। हर मोड़पर पंखोंके मूलमें एक कम्पन होता है, जो उसके मस्तिष्कतक पहुँचता है। मस्तिष्क तब अपना आदेश पंख-नियन्त्रण पेशियोंको भेजता है। यह सारा काम पलक झपकते हो जाता है।

प्रजनन - शक्तिमें मक्खियोंका जवाब नहीं। प्रत्येक मादा मक्खी एक बारमें १२५ की संख्यासे लेकर पाँच हजारतक अंडे दे सकती हैं। मादा मक्खियोंकी कई जातियाँ वायुमें ही अंडे देती हैं। बड़े सिरवाली एक जातिकी मादा मक्खियाँ उड़ती हुई मधु-मक्खियोंपर अपने अंडे देती हैं। एक अन्य जातिकी मादा मक्खियाँ भेड़ोंकी नाकपर एक-एक करके अपने अंडे गिराती रहती हैं। कुछ दूसरी मक्खियोंकी अतिशय प्रजनन-शक्तिके बारेमें राष्ट्रसंघकी विश्व स्वास्थ्य-संस्थाने बतलाया है—

'मान लीजिये, एक घरेलू मक्खीने १५ अप्रैलको १२० अंडे दिये। १० सितम्बर तक सैद्धांतिक रूपसे उसके परिवारके सदस्योंकी संख्या साढ़े पाँच खरब तक हो जानी चाहिए। मक्खियोंके सिर्फ एक जोड़ेके बच्चों, पोतों, परपोतों आदिको ही यदि जीवित रहने दिया जाय तो केवल छह महीनेमें ही सारी दुनिया ४६ फुट ऊँचे मक्खियोंके ढेरसे भर जायेगी।

प्रजनन-शक्ति इतनी अधिक होते हुए भी मक्खियोंका जीवन बहुत अल्प होता है। उदाहरणस्वरूप 'फ्रूट फ्लाई'-का जीवन कुल दस दिनका होता है। इस प्रकार एक वर्षमें इस जातिकी मक्खियोंकी करीब ३५-३६ पीढ़ियोंका अंत हो जाता है। घरेलू मक्खियोंको अंडेसे वयस्क होनेमें कुल छह दिन लगते हैं। कुछ सप्ताह बाद यह वयस्क मक्खी उड़कर अपने लिए भोजन एकत्रित करने तथा संतानोत्पत्ति करने योग्य हो जाती है। किन्तु, मक्खियोंकी प्रत्येक जातिकी जीवन - अवधि अभीतक वैज्ञानिकोंको ज्ञात नहीं हो सकी है।

मक्खियाँ विनाशकारी कीट भी हैं। वे अरबों रुपयेकी लागतका दूध चट कर जाती हैं। यूरोपसे आनेवाली 'पाइन सा' मक्खियाँ कनाडाकी हजारों एकड़ भूमिको साफ कर जाती हैं।

'स्क्रूडमं' जातिकी मक्खियोंके आक्रमणसे मुर्गियोंके झुण्ड-के-झुण्ड नष्ट हो जाते हैं। विश्व स्वास्थ्य - संस्थाकी रिपोर्टके अनुसार 'पाया गया है कि एक मक्खीके पंखोंमें एक लाख रोग-कीटाणु रहते हैं।' भारत सरकारके स्वास्थ्य-मंत्रालयकी एक रिपोर्टके अनुसार मक्खीके कारण भारतमें प्रतिवर्ष सैकड़ों व्यक्ति अन्धे हो जाते हैं।

मक्खियोंसे सुरक्षाके लिए विश्वमें प्रतिदिन लाखों रुपयोंका डी. डी. टी. तथा अन्य कीटाणु नाशक औषधियोंका प्रयोग किया जाता है। पर, मानव अभीतक मक्खियोंको समूल नष्ट करनेमें सफल नहीं हो सका है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मक्खियाँ अपनेको वातावरणके अनुकूल ढालनेमें अत्यन्त निपुण हैं, जब डी. डी. टी. का प्रचलन आरम्भ हुआ तो मक्खियोंको सर्वनाशके इस 'अमोघ अस्त्र' से बचनेमें अधिक समय नहीं लगा। कुछ दिनोंतक तो वे परेशान रहीं, फिर उन्होंने प्रभावसे बचा लिया। आज डी. डी. टी. के बावजूद मक्खियाँ पहलेसे अधिक संख्यामें मौजूद हैं। दस साल पहले डी डी. टी. की जितनी मात्रासे काम चल जाता था, अब उससे सौगुनी मात्राकी आवश्यकता पड़ती है, यह एक चिन्ताका विषय है।

मक्खी बड़ी बुद्धिमान् व चतुर होती है। इस बातका पता उसको पकड़नेका प्रयत्न करके लगाया जा सकता है। देखिए किस तरह वह आपको चकमा देकर निकल भागती है और आप ताकते रह जाते हैं।

इस नन्हीं-सी जानकी सबसे बड़ी विचित्रता है इसकी विलक्षण उड़ान। कम-से-कम वेगवाली मक्खी भी उड़नेके कमाल दिखा सकती है। धम्मसे एक सीधे पथपर जा सकती है या सहसा मुड़कर हवामें जिमनास्टिकके खेल दिखा सकती है। कीट वैज्ञानिकोंके अनुसार मक्खी विश्वकी सर्वश्रेष्ठ धावक है। शायद इसीलिए अंग्रेजीमें उसका नाम 'फ्लाई' (यानी उड़ान) रखा गया है।

४०० मीटरकी दूरी मक्खी एक सेकेंडसे कम समयमें पूरी कर लेती है। मक्खी कोई ८१८ मील प्रति घण्टेकी गतिसे उड़ती है। यह गति विश्वके तीव्रतमसे तीव्रतम विमानोंकी गतिके बराबर है। मक्खियोंकी एक जाति 'हिरण मक्खी' के दौड़नेका वेग तो और भी अधिक है। मक्खियोंके इस आश्चर्यजनक वेगका अनुमान एक क्षणतकका चित्रांकन करनेवाले कैमरोंसे किया गया है। एक अवर्गीकृत जातिकी मक्खियाँ एक स्थानसे दूसरे स्थानतक इतनी तेजीसे दौड़ती हैं कि यह देख पाना ही असम्भव है कि वे उड़कर गयी कहाँ? इतनी तेज गतिके कारण उन्हें पकड़ना संभव नहीं है। इनका वेग 'हरिण मक्खी'के

वेग (८१८ मील प्रति घंटा) से अधिक ही होता है।

उड़ते हुए करतब दिखलानेमें मक्खियोंको जो कमाल हासिल है। वह विमान चालकोंके लिए एक स्वप्नमात्र है। छतपर वह जिस तेजी और सफाईसे चक्कर काटती हुई और कुण्डलियाँ बनाती हुई जाती है, यह विलक्षण है। विमान-चालकोंके एक विख्यात शिक्षकने मक्खीकी एक उड़ानका बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि अतिशय वेगसे आती हुई मक्खी 'हाफ रोल'में उड़ती है और जब वह शीघ्रतामें नहीं होती तो उसे 'हाफ लुप' बनाते देखा जा सकता है। उन्होंने बतलाया—

हमारे अधिकांश विमान-चालक भौतिक और वायुगति विज्ञानके नियमोंको अक्सर भूल जाते हैं। पर मक्खी इन नियमोंको सदा याद रखती है।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मक्खीकी गति मुख्यतया इस बातपर निर्भर करती है कि कोई और मक्खी तो उसका पीछा नहीं कर रही है। उसकी नयी युक्ति भी इस बातपर निर्भर करती है कि स्थिति परिवर्तनसे पूर्व उसकी गति क्या थी।

कुछ वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'मक्खियाँ विनाशकारीके साथ-साथ लाभकारी भी हैं। वे हवाको साफ रखती हैं। वस्तुओं और स्थानोंको स्वच्छ रखती हैं और पराग-दान करती हैं।

धर्मराजका न्याय

श्री अविनाश शर्मा

धर्मराज न्याय-सिंहासनपर बैठे थे। यमदूत मृत्युलोकसे तीन आदमियोंको पकड़कर लाये थे। आज इन लोगोंका न्याय होनेवाला था।

एक आदमीके विषयमें यमदूतने धर्मराजको बताया।

'प्रभु! इसका सम्पूर्ण जीवन ईश्वरकी प्रार्थना करनेमें व्यतीत हुआ है। बाल-बच्चोंको छोड़कर यह जंगल चला गया तथा अपने अन्त समयतक वहीं रहा। इसके बाल-बच्चे हमेशा दुःखी रहे। पर, इसका मन हमेशा स्वच्छ और शान्त रहा!'

यमदूतकी बात सुनकर यमराज बोले:

'यह मनुष्य कायर और स्वार्थी है। इसने अपने बाल-बच्चोंको कष्ट दिया है और जीवनके संघर्षसे दूर भागा है। इसे अपने जीवनकी परीक्षा करनेका अवसर कहाँ मिला? इसे पुनः संसारमें भेजा जाय और संघर्षके बीच रहनेके लिए प्रेरित किया जाय। यदि वहाँ रहकर यह अपने मनको शुद्ध रख सका, तो इसे मोक्ष मिलेगा!

जब यमदूतने दूसरेका परिचय दिया।

'प्रभु! इसने कर्तव्यको अपना सर्वस्व समझा। जीवन-भर परिश्रम करता रहा तथा जिस वक्त इसकी पत्नीका देहान्त हुआ, उस वक्त यह कुर्सीपर बैठा अपना कार्य कर रहा था। जब इसे इसकी पत्नीके देहान्त-का समाचार दिया गया तो इसने कहा: अभी मुझे मरनेकी भी फुरसत नहीं है तो भला रोऊँ कैसे?'

'दूत! इसके पास, हृदय नामकी कोई चीज नहीं है, जिससे यह कोमल और स्वच्छ होता। हो सकता है ब्रह्माजी इसे हृदय देना भूल गये हों। ब्रह्माको खबर करो! और इसे संसारमें भेज दो तथा अनेक पारि-वारिक झंझटोंमें डाल दो!' धर्म-राजने कहा।

अन्तमें यमदूतने तीसरे आदमी-का इस प्रकार वर्णन किया:

'यह आदमी गृहस्थ था। यह अपनी पत्नी और बच्चोंको बहुत मानता था, परन्तु, उन सबके लिए

यह जो करता था, उससे उन्हें लाभ होता था। इसने अपने परिश्रमसे धन प्राप्त किया है, अपने पुत्रके देहान्त होनेपर इसने देशके सभी बच्चोंको अपना बच्चा समझा तथा उनके लिए ऐसा कार्य किया कि जिससे आज-तक उन सभीका जीवन पहलेसे अधिक सुखी है।'

तीसरे आदमीके बारेमें सुनकर धर्मराजने यह निर्णय किया :

'यह उपयोगी मनुष्य है। दुनियामें पुनः अधिक साधन-सम्पन्न बनाकर भेजो और देखो कि यह किस प्रकार अपनी सम्पत्तिका उपयोग करता है।'

इतना कहकर धर्मराज न्याय-सिंहासनसे उठे और अपने महलमें चले गये। उस दिनका कार्य समाप्त हो चुका था।

●

सफेद गुड़

गुड़के बारेमें कहा जाता है कि वह पूर्ण भोजन है। उसमें शीरेका जो तत्त्व रहता है, वह पौष्टिक आहारकी कई आवश्यकताओंको पूरा करता है। चीनीकी सफेदीमें जो आकर्षण है उसमें होड़ करनेके लिए गुड़ने भी गोरा बननेका संकल्प किया। किसान गुड़को ताम्रवर्णसे उज्ज्वल वर्ण बनानेका प्रयास पहले भी करता था। राबको बाँधकर और दबाकर उसका शीरा निकाल दिया जाता और घर बैठे चीनी तैयार कर ली जाती। लेकिन, यह देशी चीनी होती। गुड़ नहीं, कुछ किस्मके गन्नेके रससे बना गुड़ अपेक्षाकृत गोरा होता है। परन्तु किसी भी तरहके गन्नेसे गोरा गुड़ बनाकर बाजारमें कुछ अधिक मूल्य प्राप्त करनेका किसानकी इच्छा विज्ञानने पूरी की। किसानको पता चला कि सोडियम हाइड्रोजन सल्फेटके मिश्रणसे ताम्रवर्णी गुड़ भी गोरा हो जाता है। बिना जाने-समझे किसान इसका धड़ल्लेसे प्रयोग करने लगा। आंध्र-प्रदेशके गन्ना अनुसन्धान-केन्द्रके अधिकारी श्री लक्ष्मीकान्तम्ने बताया है कि सफेद गुड़ खानेके शौकीनोंको किसान जहर दे रहा है। गुड़को गोरा बनानेके लिए जितनी मात्रामें सोडियम हाइड्रोजन सल्फेटका इस्तेमाल हो सकता है उससे तीन सौ-गुना अधिकतक किया जाता है। यह रसायन कपड़ा मिलोंमें कपड़ेकी धुलाईमें काम आता है और जहर है। श्री लक्ष्मीकान्तम्के अनुसार उत्तर-प्रदेशमें लिये गये ५०% प्रतिशत और आन्ध्रके नमूनोंमें-से ३९% प्रतिशतमें यह रसायन जहरीले रूपमें विद्यमान था।

●

अधिकार

श्री भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जो गीत न जनहित के गायक,
जिनमें स्नेहिल अभिसार नहीं।
उन गीतों की उरवीणा पर,
होती कथमपि झंकार नहीं॥

जो आँधी और अभावों का,
कुछ झेल न सकता संघर्षण।
वह जीवन की चट्टानों पर,
रह सकता सदाबहार नहीं॥

कैसे जन मानस पर उसका,
सम्मान समादर हो सकता।
जिसके उर में जन-जन के हित,
हो सच्चा पावन प्यार नहीं॥

मानव होकर भी मानव का,
हित किंचित् भी नहिं साध सका।
'मधुरेश' उसे इस दुनियाँ में,
फिर जीने का अधिकार नहीं॥

"सत्सङ्ग समाजके मूर्धन्य"

सेठ श्री हरिकिशनदास अग्रवाल भारतवर्षके सत्संग समाजके एक आधार स्तम्भ थे। धार्मिक परिवारमें जन्म हुआ। आजीवन सत्सङ्ग किया। सद्गुरुमें पूर्ण निष्ठा रही। माता-पिताका नाम उज्ज्वल किया। विविध प्रकारसे समाज-सेवा की। एक समदर्शीके समान सभी सम्प्रदायोंमें समरस भाव रखा। धन कमाया। परिवारको सुखी रखा। चिकित्सा-क्षेत्रमें बड़े-बड़े कार्य किये। लाखोंका दान किया। सैकड़ों पुस्तकोंका लेखन-सम्पादन-प्रकाशन किया। अनेक-अनेक संस्थाओंका स्थापन-संचालन किया। पत्रिकाएँ निकालीं। शिविर लगाये। आदिवासियोंकी सेवा की। वे गृहस्थाश्रममें रहकर भी सदा प्रसन्न, असंग और निर्मल जीवन व्यतीत करते रहे।

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्टके प्रारम्भसे ही वे चेयरमैन रहे। जीवनके अन्तिम क्षणोंतक उन्होंने ट्रस्टका संचालन और देखभाल की। आज भौतिक-रूपसे वे इस संसारमें नहीं हैं, परन्तु उनका शक्तिशाली संकल्प सर्वदा सक्रिय रहेगा। वे एक वेदान्तनिष्ठ पुरुष थे। उनकी सद्गतिमें तो किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। उसके लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। हम हृदयसे उनकी धर्मपत्नी, पुत्र, परिवार और मित्रमंडलके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं और उनकी विरह-वेदनामें सहभागी हैं। उनके संकल्पोंको पूर्ण करना, यही उनका सबसे बड़ा श्राद्ध और सेवा है। ईश्वरकी कृपासे हम उनके प्रति अपनी यह श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनेमें समर्थ हों।

उनके साथी

ट्रस्टीगण

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

Summary

Kabir's Ramainee

Dr. Urvashi J. Surti

Kabir, a poet-philosopher and a great thinker of the mediaeval age, has to his credit numerous poetical compositions and one of them is 'BEEJAK'. It means an art or an insight to discover the wealth lying hidden beneath the layears of earth. By making use of this word 'BEEJAK', Kabir suggests that a close study of "Beejak" will help one in discovering hidden divinity—God – that lie concealed beneath the 'Cloak of Illusion.

"Ramainee" which consists of eighty-four stanzas and which forms fact of 'Beejak' can be philosophical classified as under:–

(i) Significance of the philosophy of Rama's life and his non-stop utterance;

(ii) Illusion, individual soul, ego, action, hypocrisy in the name of Religion, learning and courage of conviction;

(iii) Ignorance, doubt, delusion, passion, greed, sin;

(iv) Misery, discrimination, class-consciousness and outward show / conduct;

(v) Infatuation, caution and ulta–bansi;

(vi) Preceptor, surrender to preceptor and his Blessings;

(vii) Ultimate realily, knowledge of cosmos, devotion;

(viii) Saint and attending religious discourses;

(ix) Kabir's didacticism, God, Cosmos, non-dualism, formlessness, achievement, spiritual experiences and unswerving faith.

While explaining the significance of 'Ramainee', Kabir himself says, "How can one sing the divine glory of the One which is nameless and formless ? Yet keeping in view the various classes of seekers, Kabir has attempted to explain the essence of the supreme reality. The grasp and the assimilation of this depends upon the approach of the seekeres who tread the path.

The means which one adopts to achieve the goal of the supreme reality comes to an end no sooner one reaches it. Thus it is the objective and not the means that is more impor-

tant. Like a traveller who abandons the vehicle on reaching his destination, the seeker leaves behind without regret this frail body on attaining the supreme reality. It is like an actor who casts aside his garments on completion of his allotted role.

Kabir has attempted to difine and interpret the meaning of 'Rama' in a very broad sense. He has not restricted it in a narrow manner in the sense that Rama is the incarnation or that he is a super-man-omni-present. According to him, the being or every individual soul is the manifestation of 'Rama'–spirit of Rama; but Man does not understand this basic fact because of his ignorance–because he is enveloped on all sides by the cloud of illusion. Kabir wants to liberate himself from the cobweb of illusions of which he is the prisoner. Kabir wants to disabuse his mind and prepare himself; awaken himself for the realisation of higher life.

That self-realisation is difficult without the guidance of a spiritual tutor. That self-enlighteement will for ever remain an unfulfilled dream without the Blessing of a Tutor-this is the firm belief of Kabir. Therefore, complete surrener to Tutor is the condition precedent. One has to be in the constant company of a saint. Spiritual experiences can neither be explained nor conveyed through the poor media of words. An earnest seeker, therefore, has to make efforts to cultivate his mind and sprit in a manner amenable to such experiences.

Neither the observance of scriptural formalities nor the compliance with outward religious practices will help a man to go forward on his march to spiritual life, It is only when he first librates himself fron the sordid weaknesses such as jealousy; passion, attachment that he can touch the fringe of inner joy and bliss. Kabir is a cautious seeker against the deceptive nature of illusion (माया). Those who do not take hint from Kabir's preachings will go deep headlong into an abuse of this illusory word.

●

Let everyone do the best he can for realising his own ideal.
Vivekananda
Complime
from
NOCIL
NATIONAL ORGA
CHEMICAL INDU
LIMITED
Mafatlal Centre, Nariman
Bombay 400 021.

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

—श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषद्

लालजीमल टीकाराम

हाथरस

फोन नं० । १२९ तार : GANESH

शाखाएं ।

कटरा लेहस्वा, चाँदनी चौक

दिल्ली-६

फोन नं० : २६६९६४ फोन नं० घर : २२८१३७

तार : RAMAPATI

दुकान नं० : ९६

तीसरी गली, मङ्गलदास मार्केट

बम्बई–२

फोन नं० : ३१०९४० फोन नं० घर । २९००८१

तार : KAUSHLESH

WITH
BEST
COMPLI
Industrial
corpora
'Fropodur' Powe
&
'Siemens' Ele
Equipme
Sales & Administrati
B-Mohatta Market,
palton Roa
Bombay-1
Phone : 264883

महता पुण्यपण्येन क्रीतोऽयं कायनौस्त्वया ।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते ।।

●

अति पुण्य-पण्यसे पाई, तुमने यह काया नौका ।
दुखसागरसे तरनेको, तर, मत चूको यह मौका ।।

★

यत्र धर्मो द्युतिः कान्ति-
यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो
यतः कृष्णस्ततो जयः॥

—महा भा० भीष्मपर्व २३।२८

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहाँ ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं विजय है।

★

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।